सचित्र संक्षिप्त
भक्त-चरित माला

११ वाँ पुष्प

भक्त सौरभ

सम्पादक
हनुमान प्रसाद पोद्दार

सचित्र
संक्षिप्त
भक्त-चरित माला
भक्त
सौरभ
११ वाँ
पुष्प
सम्पादक
हनुमान प्रसाद पोद्दार

मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९६ से २०१५ तक ४३,२५०
सं० २०१९ सातवाँ संस्करण ५,०००
सं० २०२२ आठवाँ संस्करण ५,०००
कुल ५३,२५०

मूल्य ३१ न० पै० (इकतीस नये पैसे)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

निवेदन

यह भक्त-चरित-मालाका ग्यारहवाँ पुष्प है। इसमें पाँच भक्तोंकी कथाएँ हैं, प्रथम दो भक्त बड़े ही भावुक और प्रेमी हैं। शेष तीन भक्तोंका जीवन कष्टोंसे भरा हुआ परन्तु अत्यन्त उपदेशपूर्ण और श्रीभगवान्‌की कृपाका प्रत्यक्ष निदर्शक है। इनमें भक्त श्रीव्यासदासजी और मामा श्रीप्रयागदासजीकी कथाएँ श्रीनवलकिशोरदासजी विद्यार्थी और श्रीविन्दुजी ब्रह्मचारी महोदयकी लिखी हैं जो सर्वथा विश्वसनीय हैं और शेष तीन कथाओंमें शङ्कर पण्डितकी एक मराठी ग्रन्थसे और भक्त प्रतापराय तथा गिरवरकी हस्तलिखित बंगला ग्रन्थसे ली गयी हैं। कथाएँ बहुत ही उत्तम हैं। पाठकोंको इनसे लाभ उठाना चाहिये।

गीताप्रेस,
गोरखपुर

हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

विषय-सूची
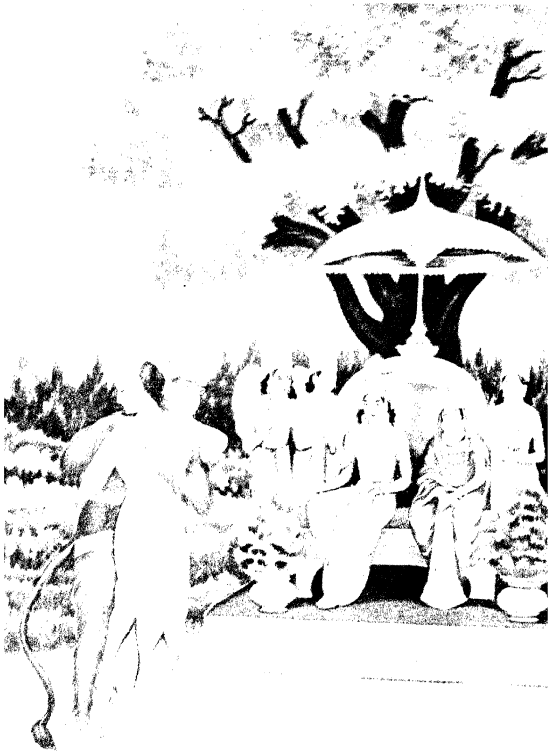
॥ श्रीहरिः ॥

भक्त-सौरभ

भक्त श्रीव्यासदासजी

ओड़छा (बुन्देलखण्ड) के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मणकुलमें पण्डित सुमोखन शर्मा शुक्ल राजपुरोहित एक माननीय पुरुष थे। उनके वचनको ओड़छानरेश और उनकी सब प्रजा मानती थी। उनकी धर्मपत्नीके गर्भसे विक्रम-संवत् १५६७ मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमीके दिन एक सुपुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका शुभ नाम हरिराम रक्खा गया। यह लड़कपनसे ही बड़ा बुद्धिमान् मालूम होता था; सबको प्रिय लगता था। पं० सुमोखन शर्माने अपने इकलौते प्रिय पुत्रको भलीभाँति विद्याभ्यास कराकर सब प्रकारसे सुयोग्य परम विद्वान् बना दिया और जैसे उपनयनसंस्कार किया वैसे ही यथा-समय बड़े समारोहसे एक सुशीला कन्याके साथ उसका विवाह भी कर दिया।

अपने पूज्य पिताकी सुकीर्तिको बढ़ानेवाले पण्डित हरिराम शर्माकी विद्याका प्रकाश चमक उठा और उनकी ख्याति दिन-दूनी फैलने लगी। बड़े-बड़े विद्वान् शास्त्रोंका मर्म समझनेके

लिये इनके पास आने लगे। उन सबको आप शास्त्रोंकी सुललित व्याख्याके द्वारा सन्देहरहित करके लौटाने लगे।

अरथ पुरान सकल समुझावैं। संसै कोऊ रहन न पावैं॥

इस प्रकार थोड़े दिनोंमें ही इनकी बड़ी प्रसिद्धि हो गयी। जिस समय इनके पूज्य पिताजी स्वर्गवासी हुए और उनकी जगह राजपुरोहितका कार्य आप करने लगे, उस समय ओड़छानरेश महाराजा मधुकरशाहजी थे। वे इनकी विद्वत्तापर मुग्ध थे।

पण्डित श्रीहरिराम शर्मा शास्त्रोंके आधारसे धर्म-कर्मके प्रत्येक विषयमें वाद-विवाद करके अपना मत विशेष मान्य करानेमें बड़े निपुण थे। जहाँ कहीं किसी विद्वान्‌का नाम सुन पाते तुरंत उसके पास वहीं शास्त्रार्थके लिये जा पहुँचते। इनके साथ राज्यकी ओरसे अङ्गरक्षक रहते थे। इनके शास्त्रार्थकी ख्याति भी दूर-दूरतक खूब फैल चुकी थी। एक समय आप काशी पधारे। प्रतिष्ठित राजपुरोहित और एक प्रखर विद्वान्‌का आना सुनकर काशीके अच्छे-अच्छे गण्य-मान्य विद्वान् इनसे मिलनेके लिये आये। शास्त्रचर्चा हुई—उसमें इनकी उत्कृष्टता रही। पश्चात् इन्होंने श्रावण मासमें वहाँके प्रसिद्ध विद्वानोंकी सम्मति लेकर वेदोक्त बृहद्विधि-विधानसे सर्वप्रकार साङ्गोपाङ्ग श्रीकाशी-विश्वनाथका अभिषेक कराया। उसी रात्रिको राजपुरोहितजीने एक स्वप्न देखा। शुक्लाम्बरधारी साधुके वेषमें सदाशिव इनके पास आकर बोले—'मैं बहुत कालसे इस काशीमें निवास करता हूँ। आपकी विद्याकी बड़ाई सुनकर आया हूँ, मेरी एक छोटी-सी शङ्काका समाधान आप कर

दीजिये ।' वह शङ्का यह है कि—'विद्याकी पूर्णता कब है ?' उत्तरमें इन राजपुरोहितजीने कहा—'भगवन् ! सत्यासत्यको यथार्थ जानकर प्राप्त करनेयोग्य पदार्थको प्राप्त किया जाय, तब है ।' यह उत्तर सुनकर भोले बाबा बोले—'अहो पण्डितराज ! आप जितना दूसरोंको समझाते हैं उतना स्वतः क्यों नहीं समझ रहे हैं ? आपकी विद्यामें यह एक बड़ी भारी त्रुटि है । इस त्रुटिको दूर करनेके लिये आपको प्रयत्न करना चाहिये । जब प्राप्त करनेयोग्य पदार्थको प्राप्त करनेमें ही विद्याकी पूर्णता है, तब भला वाद-विवादसे वह पूर्णता कैसे प्राप्त होगी ? वह पदार्थ एकमात्र भक्तिसे लभ्य है और विद्याकी पूर्णता भी भगवद्भक्तिमें ही है । भक्तिके बिना इस विद्याकी पूर्णता नहीं है; विद्याकी पूर्णताके लिये भगवद्भक्ति करनी चाहिये ।'

पण्डितजी जब जागे तो विद्याका नशा उतर चुका था, विवादकी लालसा मिट चुकी थी । जीवनमें एक नया अध्याय खुल रहा था ।

अतः अब, 'वही पढ़ विद्या जामें भक्ति कौ प्रबोध होय ।' इस स्वप्नने इनके जीवनको पलट दिया, अब तो 'वही पढ़ विद्या जामें भक्ति कौ प्रबोध होय'—यह सूत्र इनके जीवनका प्रधान कर्तव्य बन गया । जिसकी विद्वत्ताके आगे बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् परास्त हो चुके थे, वही आज 'जिसमें भक्तिका प्रबोध होय' ऐसी विद्या पढ़नेकी चिन्तामें डूब रहे हैं । यह कुछ निराली ही पहेली है ।

पं० श्रीहरिराम शर्मा व्यास जीतकर भी अपनेको हारा-सा अनुभव कर रहे थे । वे अपने वाद-विवादोंके साधन बड़े-बड़े पोथोंको बाँधकर

काशीसे सीधे अपने मुकाम ओड़छाको लौट आये, किन्तु वह रटन चित्तमें चौगुनी बलवती हो चली। अब तो दृष्टि ही पलट चुकी थी, इसलिये बाल-बच्चे, धन-धाम, काम-वाम, मान-बड़ाई सभी बातें इन्हें भार-सी—व्यर्थ-सी मालूम होने लगीं।

ऊँचौ मन, गुरु करनौ विचारै। ऐसो करौं जु पार उतारै॥
कबहूँ कै रैदास सुहावै। कबहूँ मत कबीर को भावै॥
कबहूँ पीपा पर मत राखै। कबहूँ श्रीजयदेवहि भाखै॥
कबहूँ नामदेव सुधि आवै। कबहूँ रंकहि बंकहि गावै॥

संतोंकी शरणमें जानेके लिये अब इनका हृदय ललक रहा था और एक-एक कर सबकी स्मृति हो रही थी। किन्तु ठीक किसी एक निश्चयपर अभी नहीं पहुँचे। इनके सौभाग्य-संयोगवश श्रीराधावल्लभ (आद्यब्रह्म) सम्प्रदायाचार्य वंशी-अवतार अनन्त श्रील श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीके शिष्य संत श्रीनवलदासजी महाराज भ्रमण करते-विचरते ओड़छा जा निकले। इनको देखकर पण्डितराज अति प्रसन्न हुए, मिले और उनको आदरपूर्वक कुछ दिन अपने पास रखकर इन्होंने सत्सङ्ग किया। सत्सङ्गसे श्रीराधाकृष्ण युगलस्वरूपकी अभिन्नता और नित्यलीलाका रहस्य मिला। रहस्यको प्रकट करनेवाले श्रीहितप्रभुजीकी उपस्थिति सुनी!

'भगवत' दुख बिसर्‌यो सुनत, नवल बचन सुख सीर।
संसै सूल, रु भ्रम नस्यौ, निरमल भयौ सरीर॥

श्रीहितप्रभुजीको गुरु करनेकी उत्कण्ठा देखकर महात्मा श्रीनवलदासजी इनसे बोले, वृन्दावन चलकर दर्शन कीजिये और उन्हींसे दीक्षा

लीजिये। अब तो पण्डितजीको गृहस्थाश्रम एक पूरा जंजाल दिखायी देने लगा और सब छोड़-छाड़कर साधु बननेकी धुन सवार हो गयी। तुरंत—

'व्यास' अवास कुटुंब बिहाई। बृंदाबन गवने हरषाई॥

मार्गमें तरह-तरहके मनोरथ करते जाते थे।

हरि मिलिहैं मोहि बृंदाबन में।
साधु बचन मैं साँचे जाने, फूल भई मेरे मन में॥
बिहरत संग देखि अलिगनजुत निबिड़ निकुंजभवन में।
नैन सिराय पाय गहिबी तब, धीरज रहिहै कवन में॥

अब न और कछु करनै, रहनै है बृंदाबन।
होनौ होइ सो होइ किनि, दिन-दिन आयु घटति झूँठे तन॥
मिलिहैं हित ललितादिक दासी रास में गावत सुनि मन।
जमुना पुलिन कुंज घन बीथिनि बिहरत गौर स्याम घन॥
कहँ सुत संपति औ गृह दारा, काटहु हरि माया के फंदन।
व्यास आस छाड़हु सबही की कृपा करी राधा नँदनंदन॥

इस प्रकार मन-ही-मन मनोरथ करते हुए ये वि० सं० १६०० के लगभग कार्तिकमासमें श्रीवृन्दावनधाममें महात्माजीके साथ पहुँचे। यमुनाजीमें स्नान करके श्रीजीके मन्दिरमें आये। उस समय श्रीहितप्रभुजी भगवान् श्रीराधावल्लभजीको राजभोग धरानेके निमित्त रसोई बनानेका कैङ्कर्य कर रहे थे। उसी समय पण्डितजीने उनसे बातें करनी चाहीं। आग्रह देख श्रीमदाचार्यने चूल्हेपर टोकनी रक्खी थी, उसे उतारकर नीचे रख दी और जलसे अग्नि-

को शान्त कर दिया। यह देख तुरंत पण्डितजी बोल उठे—रसोई और चर्चा—दोनों काम साथ ही हो सकते थे। कारण कि—

करिबौ धरिबौ कर कौ धर्म। कहिबौ सुनिबौ मुख श्रुति मर्म॥

(अनन्य रसिकमाल)

इसके उत्तरमें श्रीमहाप्रभुजीने सारभरी बात इस प्रकार कही—

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायौ।
जहँ तहँ बिपति जार जुबती लौं प्रगट पिंगला गायौ॥
द्वै तुरंग पर जोर चढ़त हठि परत कौन पै धायौ।
कहि धौं कौन अंक पर राखै, जो गनिका सुत जायौ॥
(जैश्री)हित हरिबंस प्रपंच बंच सब काल ब्याल कौ खायौ।
यह जिय जानि स्याम स्यामा पद कमल संगि सिर नायौ॥

इस हितसिद्धान्तको श्रवण करते ही पण्डितजीको विशेष उपदेश यह हुआ कि, यह समस्त प्रपञ्च कालरूप सर्पसे ग्रसित है; इसका अन्त अवश्य है। ऐसा हृदयमें विचारकर जिसने श्रीश्यामाश्याम-पादपद्मानुरागी जनोंको सिर नवाया, वह काल-व्याल-के गालसे बचा अर्थात् वही जीवन्मुक्त हुआ।' यह उपदेश पण्डितजीको बहुत रुचा, ये दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थनापूर्वक बोले—'अब कृपा करके आप मुझे दीक्षा दीजिये और अपना किङ्कर कीजिये।'

श्रद्धा लखि 'निज मंत्र' सुनायौ। भयौ ब्यास के मन कौ भायौ॥

(अनन्य रसिकमाल)

अब तो यथाविधि दीक्षा प्राप्त करके ओड़छाके राजपुरोहित पण्डित श्रीहरिराम शर्मा श्रीजीकी शरण पाकर श्रीव्यासदास

बन चुके; एक विरक्त वैष्णवके रूपमें दिखायी देने लगे* और वृन्दावनधाममें सेवाकुञ्जके समीप एक मन्दिर निर्माण कराकर हित-पद्धतिसे सेव्य युगलकिशोरस्वरूप श्रीराधाकृष्ण पधराकर अत्यन्त लाड़ लड़ाने लगे। थोड़े ही दिनोंमें वृन्दावनके कोने-कोनेमें 'व्यासजीकी जोरी'के नामसे प्रभु कहाने लगे।

रहसि बिलास महोत्सव पागे। श्रीगुरु साधुनि सेवन लागे॥

संत श्रीनवलदासजीका उत्तम आभार मानकर, दीक्षाके तत्त्वको विचार करके और प्रेमा-भक्तिके महत्त्वको समझकर आप कहने लगे--

हौं बलिहारी संत की, कियौ बहुत उपकार।
हरि सो धन हिरदै धर्‌यौ, छुटा दियौ संसार॥

और--

स्याम निबेर्‌यौ सब सौं झगरौ।
निज दासनि के दास करे हम, पायो नाम अचगरौ॥
देवी देवा भूत पितर सबही को फार्‌यौ कगरौ।
पावन गुन गावत तन सुधर्‌यौ, तब रसिकन पथ डगरौ॥
मिटि गइ चिंता मेरे मन की, छूटि गयौ भ्रम सगरौ।
चार पदारथहू ते न्यारौ 'व्यास' भगति सुख अगरौ॥

---

*निजमन्त्रोपदेशेन माया दूरमुपागता। कृपया गुरुदेवस्य द्वितीयं जन्म कथ्यते॥
(नारदपाञ्चरात्र)

यह 'मन्त्र' हितस्वामिनी श्रीश्रीराधिकाजीने कृपा करके विक्रम-संवत् १५४१, चैत्र शुक्ला पूर्णिमा, सोमवारके दिन श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीको प्रदान किया था। इसी मन्त्रकी दीक्षाद्वारा जो शिष्य-प्रशिष्य हुए, उनके द्वारा हितसिद्धान्तका विशेष प्रचार हुआ है।

यहाँतक तो इनके शिष्य होनेके सम्बन्धमें संक्षेपमें लिखा गया। अब आगे इनके सात्त्विक जीवन, जगत्‌में संतजनोंको क्या-क्या बाधाएँ भोगनी पड़ती हैं और उनके बीचमें विरक्त-वैष्णवका जीवन किस कसौटीपर पहुँचता है एवं साधुकी सहनशक्तिका प्रभाव सांसारिक जीवनके ऊपर कैसा पड़ता है, इन सब दृष्टियोंसे इनके जीवनकी कुछ खास-खास घटनाओंका उल्लेख यहाँ प्रेमी पाठक महानुभावोंके आनन्दार्थ किया जाता है।

प्रतिदिनकी भाँति इनके यहाँ आज भी दर्शकोंका जमघट जम रहा था। रासमें युगलस्वरूपका नृत्य हो रहा था, रंग छा रहा था, अनुपम आनन्द बरस रहा था। इसी समय श्रीराधिकाजीके चरणकमलसे घुँघरू टूटकर पृथक् हो गया। आप वहाँ बैठे थे ही। तुरंत 'नौगुनौ तोरि नूपुर गुह्यौ महत-सभा-मधि रासके'—आपने अपना यज्ञोपवीत तोड़कर श्रीराधिकाजीके घुँघरूमें गूँथ दिया! यह देख दर्शकलोग आश्चर्यचकित होकर बोल उठे—'व्यासदासजी! यह आपने क्या किया? अरे राम राम! यज्ञोपवीतको आपने पगमें बाँध दिया!' आपने तत्काल उत्तर दिया कि 'बहुत दिनोंसे इसको ढोया था, आज अच्छे मौकेपर इसे बहुत सुन्दर काममें लगा दिया। इससे अच्छा इसका उपयोग और क्या हो सकता है? भगवच्चरणोंकी प्राप्ति ही तो सब धर्मोंका लक्ष्य है। इसीलिये मैंने आज इस शुभावसरमें इस सूत्रको अपने परम इष्ट श्रीकृष्णप्राणाधिका राधिकाजीके चरणोंमें समर्पण कर दिया है, यही तो इस सूत्रका सौभाग्य है।' यह उत्तर सुनकर सब भावुक बहुत आनन्दित हुए।

कुछ वर्ष व्यतीत होनेके पश्चात् इनका पता ओड़छानरेशको मिला। उन्होंने इनको लिवा ले जानेके लिये अपने मन्त्रीको भेजा। मन्त्री वृन्दावन आकर इनसे मिले। महाराजाका लिखा पत्र दिया और सब समाचार कह सुनाये। आप 'हाँ', 'ना' कुछ भी न बोले। पूरा महीना बीत चला, तब मन्त्रीने कहा, 'आपको बुलानेके लिये मुझे भेजा गया है; महाराज आपको दिन-रात याद किया करते हैं; आप ओड़छे पधारें। यह सुनकर आप प्रेमभरे शब्दोंमें मन्त्रीसे बोले—

कहाँ हौं बृंदाबन तजि जाउँ।
मोसे नीच पोच कों अनत न हरि बिनु और न ठाउँ॥
सुख पुंजनि कुंजनि के देखत बिषय बिषै क्यौं पाउँ।
एक आगि कौ डाढ़्यौ दूजी आगि माँझ न बुझाउँ॥
एक प्रसन्न न मोपर, निसिदिन छिनि-छिनि सबै कुदाउँ।
राधा रँवन सरन बिनु अब हौं काके पेट समाउँ॥
भोजन छाजन की चिंता नहिं, मरबेहू न डराउँ।
सिर सिंदूर ब्यास धार्‌यौ अब, है है स्याम सहाउँ॥

इस उत्तरसे मन्त्रीने समझ लिया कि 'अब इनका मन चलनेका नहीं है। और अधिक कहनेमें भी कुछ सार नहीं है।' अतएव विचारकर उन्होंने एक उपाय रचा। श्रीव्यासदासजी यमुनाजीमें स्नान करने गये थे। पीछेसे समय पाकर मन्त्रीने श्रीहितमहाप्रभुजीसे बहुत कुछ प्रार्थना करके अपना अभिप्राय प्रकट किया। अन्तमें महाप्रभुजी बोले—'अच्छा, दर्शन करने आवेगा तब व्यासदासको कुछ

कहेंगे ।' इस बातका पता यमुनाजीपर किसी प्रकार श्रीव्यासदासजीको लग गया कि आज आपको ओड़छा जानेके लिये श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा देनेवाले हैं, आप आज्ञाके भयसे वहीं झाउओंमें छिप रहे; दर्शन करने तक नहीं गये । तीन दिन बीत गये तब श्रीमहाप्रभुजीने इनको ढूँढ़नेके लिये अपने शिष्योंको आज्ञा दी । उन्होंने बहुत कुछ खोज की तो यह झाउओंके आड़े छिपे पड़े मिले । गुरुदेवका बुलावा सुनकर आप उठे और बोले, 'ठहरो ! मैं स्नान कर लूँ, फिर चलूँ ।' यमुनाजीपर आकर बड़ी देरतक स्नान करते रहे, शीघ्र चलनेको कहा गया तो घाटपर कोयला घिसकर मुखपर बहुत-सी कारिख पोत ली और एक गदहा साथमें ले लिया, चले गुरुदेवके दर्शन करने । यह देख रसिकजनोंने इनसे पूछा, आज आपने यह कैसा स्वाँग रचा है ? आपने उत्तर दिया, 'जिनकी शरणमें आकर मैंने श्रीवृन्दावनधामका निवास पाया है और अपने जीवनका लाभ लेता हूँ वही मेरे श्रीगुरुदेव आज मुझे इस वृन्दावनधामको छोड़कर जानेकी आज्ञा करेंगे; तब निश्चय ही मुझे जाना ही पड़ेगा । इसलिये अब श्रीवृन्दा-वनधामका निवासरूप जो परमपद है इससे उतरकर नरकमें पड़ना ही होगा; श्रीवृन्दावनधामको छोड़कर निकलते समय कारिख मिली-न मिली । इसीसे मैंने पहले ही पोत ली ।' यह बात व्यासदासजीकी प्रतीक्षामें बैठे हुए श्रीआचार्य महाप्रभुजीके कानोंतक पहुँच गयी । सुनकर वे बहुत दुखी हुए, मनमें पछतावा करने लगे, हृदय भर आया । मन्त्री वहीं बैठे थे । उनको आपने तत्काल साफ उत्तर दे दिया कि—'मैं उस बड़भागी व्यासदाससे श्रीवन छोड़कर आपके साथ जानेके सम्बन्धमें एक शब्द भी नहीं कहूँगा ।' अब तो

श्रीव्यासदासजीको खबर मिली और निश्चय हुआ कि 'मेरे श्रीगुरुदेव मुझे वह बात नहीं कहेंगे ।' तुरंत कारिख धोकर दर्शन करने आये । गद्गद होकर साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम किया । श्रीमहाप्रभुजीने इनके निमित्त श्रीमहाप्रसाद धर रक्खा था, वह पवाया । दर्शन करके अपने मुकाममें गये तो मन्त्रीने पुनः बड़े आग्रहसे वही बात चलायी । आपने तुरंत कह दिया अच्छी बात है, कल होने दीजिये । दूसरे दिन आपने कहा 'अब चलनेकी तैयारी कीजिये । मैं श्रीगुरुदेवके दर्शन कर प्रसाद लेता हूँ ।' मन्त्रीने समझा यह आज भी कहीं जा न छिपें । इसलिये मन्त्री और मन्त्रीके सभी साथी इनके साथ हो लिये । श्रीजीको राजभोग लग चुका था और महाप्रसाद पाने संत पुरुषोंकी पंक्ति बैठी थी । पंक्ति प्रसाद पाकर जब उठी तो नित्य-नियमानुसार श्रीव्यासदासजीने संतोंका जूठन लेकर पाया ।* यह देख साथमें आये हुए चतुर मन्त्री इनसे घृणा करने लगे और आपसमें विचार किया कि 'अब ये राजपुरोहितजी बिल्कुल बिलट चुके, ब्राह्मण नहीं रहे; अपने वहाँ ले चलेंगे तो यह और सबको भी बिलटावेंगे । अतएव इनको यहीं रहने देना ठीक है । महाराजको समझा देंगे ।' इस प्रकार निश्चय करके डेरेपर आये और श्रीव्यासदासजीसे बोले, 'अब हम सब वापस जाते हैं । आप महाराजको पत्र लिख दीजिये ।' आपने लिखा—

---

* प्रेम मगन नहिं गन्यो कछु बरनाबरन बिचार ।
सबनि मध्य पायौ प्रगट, लै प्रसाद रस सार ॥

—आचार्य श्रीहित ध्रुवदासजी

रसिक अनन्य हमारी जाति ।
कुलदेवी राधा, बरसानौ खेरौ, ब्रजबासिन सों पाँति ॥
गोत गुपाल, जनेऊ माला, सिखा सिखंडि हरिमंदिर भाल ।
हरि गुन नाम बेद धुनि सुनियत, मूँजपखावज,कुस करताल ॥
साखा जमुना, हरिलीला, षटकर्म, प्रसाद पान धन रास ।
सेवा बिधि, निषेध जड संगति, बृत्ति सदा बृंदाबन बास ॥
स्मृति भागवत, कृष्ण नाम संध्या तर्पण गायत्री जाप ।
बंसी रिषि!जजमान कल्पतरु,'ब्यास' न देत असीस सराप ॥

मन्त्रीने जाकर महाराजा मधुकरशाहको वह पत्र दिया और सब समाचार सुनाये । कहा, वे राजपुरोहितजी अब आपके यहाँ पुरोहितीका काम करनेके योग्य नहीं रहे, बिलट गये हैं, जो किसी वर्ण-धर्ममें नहीं हैं ऐसे साधुओंका जूठन बचा हुआ खा लेते हैं और यज्ञोपवीत न जाने कबका तोड़ फेंका है । यह सब सुना पर ओड़छानरेश कुछ बोले नहीं ।

परन्तु पुरोहितजीके बिना महाराजाका जी बहुत उदास रहने लगा । तब उन्होंने मन-ही-मन विचार किया कि 'पुरोहितजी सकलशास्त्रनिष्णात एक प्रसिद्ध पुरुष हैं । मन्त्रीके साथ नहीं आये, पर मेरे जानेसे वे अवश्यमेव आ जावेंगे ।' यह विचार निश्चय कर स्वतः महाराजा श्रीव्यासदासजीको लेने वृन्दावन गये । कर्मचारीने आगे आकर खबर दी कि आपके दर्शनार्थ आपके पास महाराजा आ रहे हैं । तब ये मन-ही-मन कहने लगे—

मन मेरे तजिये राजा संगति ।
स्यामहि भुलवत दाम काम बस इन बातनि जैहै पति ॥
बिषयनि के उर क्यों आवत हरि, पोच भई तेरी मति ।
सुख कहँ साधन करत अभागे,निसिदिन दुख पावत अति ॥

इतनेमें महाराजा आ पहुँचे। पूर्वस्नेहके कारण परस्पर गद्गद होकर मिले। शिष्टाचार हो चुकनेके पश्चात् महाराजा बोले 'आप ओड़छे पधारिये।' इन्होंने कहा—

अब मैं श्रीवृंदाबन रस पायौ।
राधा चरन सरन मन दीनौं, मोहनलाल रिझायौ॥
सूतो हुतौ बिषय मंदिर में हितगुरु टेरि जगायौ।
अब तौ 'व्यास' बिहार बिलोकत सुक नारद मुनि गायौ॥

'भले, एक दिन रहकर वापस चले आइये; पर एक बार आप मेरे साथ ओड़छे अवश्य चलिये।' महाराजाने बड़े आग्रहसे ऐसा कहा, तब आपने कह दिया 'अच्छा विचार करेंगे।' महाराजा अपने डेरेपर गये। ये प्रभुसे प्रार्थना करने लगे—

मेरे तन सों बृंदाबन सों हरि जिनि होइ बिछोह।
अरु यह साधु संग जिनि छूटौ, ब्रजबासिन सों छोह॥

जब-जब महाराजा इनसे मिलें, तभी चलनेकी चर्चा किया करें; परंतु ये उनको 'आज अमुक फूलबँगलाके दर्शन करो; आज मेला देख लो; आज श्रीवृन्दावनधामकी चलिये परिक्रमा तो कर ही लीजिये, फिर न जाने कब आना हो? क्या पता, आये न भी आये। अतः जो अवसर है इसका लाभ ले लेना चाहिये। अच्छा तो अब दो रात्रि और निवास कर लीजिये, पीछे देखा जायगा।' तदनन्तर श्रावणके झूलोंका बहाना करने लगे। इस प्रकार नित्य बहाने करके समय बिताने लगे। ऐसे बहानोंमें हेतु इनका यह व्रत था—

जीवत मरत बृंदाबन सरनैं।
सुनहु सचित ह्वै श्रीराधामोहन यह बिनती मन धरनैं॥
यहै परम पुरुषारथ मेरौ, और कछू नहिं करनैं।
स्याम भरोसें तेरे ब्रत के नहीं 'ब्यास' कौ टरनैं॥*

महाराजाके आग्रहसे श्रीवनवासियोंने कुटुम्बी जनोंसे मिल आनेके बहाने, साथमें जानेके लिये कहा। आपने उसी समय उत्तर दिया—अरे वनवासी भाइयो! मिलने किससे जाना, जब कि—

(श्री) बृंदाबन के रूँख हमारे मात पिता सुत बंधु।
गुरु गोबिंद साधु गति मति सुख फल फूलनि कौ गंधु॥
इनहिं पीठि दै अनत दीठि करै, सो अंधनि में अंधु।
'ब्यास' इनहिं छोड़ै औ छुड़ावै, याको परै निकंधु॥

और—

बृंदाबन तजि जे सुख चाहत, ते सब राच्छस प्रेत।
ब्यासदास के उर में बैठ्यौ मोहन कहि कहि देत॥

इनके परमदेवता संत महापुरुषोंने भी कहा 'श्रीव्यासदासजी! आप संतसेवी महात्मा हैं। यद्यपि जो उचित प्रतीत होगा आप वही करेंगे तथापि हमारी सबकी सम्मति तो यह है कि जब राजा-का इतना अधिक आग्रह है तो एक बार आप ओड़छा हो आइये, इसमें महाराजाके मनको आनन्द होगा और आपको संतसेवाके

---

* जो कोउ कहै, जा, ब्रत छोड़ी।
ताहि कहैं मति तोरि निगोड़ी॥
(स्व० म० रघुराजसिंहजी)

लिये अर्थ प्राप्त हो जायगा। अतः एक दिनके लिये वहाँ जानेमें क्या हानि है ?' इसके उत्तरमें महात्माजीने कहा–'प्रभो! आपकी आज्ञा तो उचित ही है; किन्तु हमारे अनन्य परमधर्मकी रीति इससे नितान्त विपरीत है। वह यह है कि—

जाकी उपासना, ताही की बासना,
ताही कौ नाम रूप गुन गाइयै।
यहै अनन्य परमधर्म परिपाटी,
बृंदाबन बसि अनत न जाइयै॥
सोइ ब्यभिचारी, आन कहै, आन करै,
ताको मुख देखे दारुन दुख पाइयै।
'ब्यास' होइ उपहास आस किये,
आस अछत कित दास कहाइयै॥

और—

'ब्यास' आस जौ लगि हिये जग गुरु जोगी दास।
आस बिहीनो जगत में जोगी गुरु जग दास॥

उपस्थित सब संत परधर्मी अनन्यरसिककी प्रशंसा करने और धन्य-धन्य कहने लगे। स्वतः ओड़छानरेश बोले, 'आपको हमारे साथ अवश्य चलना ही पड़ेगा; बिना लिये हम न जायँगे। अब चलनेको तैयार हो जाइये।' तब इन महात्माजीने अपना मनोगत भाव स्पष्ट कह सुनाया कि—

सुधार्‌यौ हरि मेरौ परलोक।
श्रीबृंदाबन में कीन्हौ दीन्हौ हरि अपनौ निज ओक॥
माता कौ सो हेत कियौ हरि जानि आपनौ तोक।
चरन धूरि मेरे सिर मेली और सबनि दै रोक॥

ते नर राच्छस कूकर गदहा ऊँट बृषभ गज बोक ।
'ब्यास' जु बृंदाबन तजि भटकत, ता सिर पनही ठोक ॥

सुनते ही महाराजाने अपने कर्मचारियोंको आज्ञा दी कि अब इनको पालकीमें धरकर ले चलो । सभी भृत्य पकड़नेको तैयार हो गये । तब ये बोले--अच्छा तो अब मेरे सब भाई-बन्धुओंसे तो मिल लेने दो ! ऐसा कहकर आप एक कदम्बको बाँक भरकर बड़ी देरतक रोये । बल करके जैसे-तैसे छुड़ाया गया तो चटसे दूसरे कदम्बको लिपट पड़े; दूसरेसे छुड़ानेपर तीसरेसे चिपट गये । यह देखकर राजकर्मचारियोंने कहा--बस, मिल लिये, अब तो छोड़ो ! आप कहने लगे अभी तो बहुत बाकी हैं; मुझे सबसे मिल लेने दो; इस प्रकार ये रोते जायँ और कदम्बोंसे बोलते जायँ--'आपकी शरणमें मुझे सदा आनन्द रहता है; आप ही तो मेरे माता हो, पिता हो, भाई-बन्धु हो, मित्र हो, मेरी गति हो और परम पुरुषार्थ हो । पर आप मुझपर दया नहीं करते; मैंने आपको कोई कष्ट नहीं दिया, आज मुझे क्यों छोड़ते हो ! अरे रे, आपका वियोग मुझसे कैसे सहन हो सकेगा ? आप ही बताओ मुझसे ऐसा कौन-सा आपका अपराध बन गया जिससे आप इतने कुपित हो गये हैं ? भले, मेरे दुर्भाग्यवश आप मुझे न चाहो, पर मैं जीते-जी आपको छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा; आपके बिना नहीं जीऊँगा ।' इस प्रकार रोते, मिलते-करते चार प्रहर दिन बीतनेको आया । यह दशा देख एक वृन्दावनवासिनी बुढ़ियाने सरलतासे कहा--'अरे निपूते ! तोकौं लै जाइबेके ताईं राजा मथै है तौ तूँ इतनौ हठ च्यौं करै है, वाके संगमें छानौं मानौं चलो च्यौं नाहिं जाय; दुःख क्यों उठावै ? कदम्बनिके

ताई बावरे! क्यौं मरौ परै है, ये कहूँ भाजि थोरे ही जायँगे? फिर आजइयौ।' आपने कहा—

व्यास सुरसिकन की रहनि बहुत कठिन है, वीर!
मन आनंद घटै न छिन, सहै जगत की पीर॥

महाराजा श्रीमधुकरशाहजी श्रीव्यासदासजीके ऊपर मरे पड़ते थे, उनका हृदय टूटा पड़ता था। वे चाहते थे कि किसी प्रकार भी ये एक बार ओड़छा चले चलें तो ठीक! किन्तु उनका वह मनोरथ अनेक प्रयत्न करनेपर भी सफल न हुआ। अन्तमें निराश होकर ओड़छाधिपति श्रीव्यासदासजीके आगे रो पड़े और लिवा ले जानेके कारण किये गये अपने हठके लिये हाथ जोड़कर इनके चरणोंपर अपना मस्तक धरके उन्होंने क्षमा माँगी और कहा, 'आपने मेरे हठवश बहुत कुछ कष्ट उठाया; जीमें अत्यन्त क्लेश भोगा। मेरे अपमानजनक स्वार्थमय कुवचनोंको भी आदिसे अन्ततक आपने सहा; मेरे दुराग्रहकी हद हो गयी; परन्तु आपने अपने मुखसे मुझे एक भी कठोर शब्द न कहा और न मेरे प्रति आपने अपने स्नेहको ही तोड़ा तथा न अपना दृढ़व्रत ही छोड़ा।' संतजीने अपने सहज स्वभावसे कहा—राजन्!

भगत बिनु केहि अपमान सह्यौ।
कहा कहा न असाधुनि कीनौ, हरि बल धरम रह्यौ॥
अधम राज मद माते लै सिबिका जड़भरत नह्यौ।
निगड़ सहे बसुदेव देवकी, सुत पटकत दुसह सह्यौ॥
हरि ममता प्रहलाद बिषाद न जान्यौ, दुख सहदेव दह्यौ।
पट लूटत द्रौपदि नहिं मटकी, हरि कौ सरन गह्यौ॥

मत्त सभा कौरवनि बिदुर सों कहा कहा न कह्यौ ।
सरनागत आरत गजपति को आपुन चक्र गह्यौ ॥
हा हरि ! नाथ ! पुकारत, आरत और कौन निबह्यौ ।
ब्यास बचन सुनि मधुकरसाह भक्तिफल सदा लह्यौ ॥

अतएव—

हरि सों कीजै प्रीति निबाहि ।
कपट किये नागर नट जानत सब के मन की डाहि ॥
मैं फिरि देख्यौ लोक चतुर्दस नीरस घर घर आहि ।
अपने अपने स्वारथके सब, मन दीजै अब काहि ॥
भक्ति प्रताप न जानत बिषई, भवसागर अवगाहि ।
जार जुबति गनिका कौ बेटा पहिचानै न पिताहि ॥
जैसें प्यासौ मृग धावत, नहिं पावत मृगतृस्नाहि ।
ऐसैं तन धन सुत दारा झूँठे 'ब्यास' मधुकरसाहि ॥

जो पहले धर्म-कर्मकी शिक्षा देनेमें कुशल राजपुरोहित थे वही अब श्रीभगवद्भक्तिकी दीक्षा देनेमें पूरे राजगुरु हैं। इस बातको महाराजाका हृदय स्वीकार कर चुका। मोहरूप रात्रिका पौ फट गया। जीवन सफल करनेको मार्ग मिल गया। बार-बार नमन करने लगे और अपने भाग्यको सराहने लगे। शिक्षाके साथ दीक्षा भी मिल गयी; जिनको लेने आये थे उनके हाथ अपने आप बिक चले !

अब ओड़छाधिपति वापस जाने लगे तो अपने पूज्य गुरुदेव श्रीव्यासदासजीकी आज्ञा लेने आये। उस समय राजगुरु अपने शिष्यका हाथ पकड़कर समीप बैठाकर बोले—जाते तो हो, पर याद रखना—

मेरे भक्त हैं देई देऊ।
भक्तनि जानौ, भक्तनि मानौ, निज जन मोहि बतेऊ ॥
माता पिता भैया मेरे भक्त, दमाद सुजन बहनेऊ।
सुख संपति परमेसुर मेरैं हरिजन जाति जनेऊ ॥
भवसागर कौ बेरौ भक्तै केवट बड़ हरि खेऊ।
बूड़त बहुत उबारे भक्तन लिये उबारि जरेऊ ॥
जिनकी महिमा कृष्ण, कपिल कहि हारे सर्वोपरि वेऊ।
ब्यासदास के प्रान जीवन धन हरिजन बाल बड़ेऊ ॥

अतएव, देखना कहीं इनकी सेवामें चूक न पड़ने पावे। गुरुकी आज्ञा सिर-आँखोंपर रखकर, दण्डवत्-प्रणाम करके महाराजने श्रीवनसे प्रस्थान किया। ओड़छा पहुँचे, उसी दिनसे 'कंठी धरि आवै कोइ, धोर पग, पीवै सदा' यह दृढ़ नेम निभाने लगे और भाव-भक्ति करने लगे। जो भी संत महात्मा आ जाते, महाराजा उनकी पूरी आवभगत करते तथा उनका चरणोदक पीते और सदा-सदैव संतोंकी ही सेवामें लगे रहते। महाराजा भी अब साधु-वेषमें पूर्ण निष्ठावान् हुए। किन्तु उनकी दृढ़ निष्ठा और संत-सेवाके भावको न समझकर उनके भाई-बन्धुओंने बहुत कुछ बाधा पहुँचानी आरम्भ की एवं उनको घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे। उनसे उकताकर महाराजाने अपने पूज्य श्रीगुरुदेवको श्रीवन पत्र लिखा। उस पत्रके उत्तरमें महात्माजीने लिखा—

होइव सोई, हरि जो करिहै।
तजि चिंता चरन सरन रहि, भावी सकल मिटरिहै ॥
करिहै लाज नामा-नाते की, यह बिनती मन धरिहै।
दीन दयाल बिरद साँचौ करि, हरि दारुन दुख हरिहै ॥

सिंघनि सिंघ बीच बैठ्यौ सुत, कैसें स्यारहि डरिहै ।
ऐसें स्यामा स्यामै थरु दै, डरि कै कौन बिचरिहै ॥
सुनियत सुक मुनि बचन चहूँ जुग, हरि दोषनि संघरिहै ।
साधुनि कौ अपराध करत मधुकरसाह[1] ! न ताहि गुदरिहै ॥

राजपुरोहितानीजीने समझ लिया कि मन्त्रीके जानेसे न आये; और स्वतः महाराजाके जानेसे भी जो नहीं आये, वे अब यहाँ नहीं आवेंगे । अतएव अब मुझे ही उनकी सेवामें जाना चाहिये । यह विचार, वे अपने पतिसे मिल आनेके लिये महाराजासे आज्ञा लेकर पुत्रोंके साथ वृन्दावन आयीं । किन्तु श्रीव्यासदासजीने

१. गोस्वामी श्रीनाभाजीने 'भक्तमाल' (भक्त-संख्या १५२ छप्पय ११७) में लिखा है—

× × × ×
मधुकर नृप सरबसु दियो ।
भक्तनि कौ आदर अधिक
राजबंस में इन कियौ ॥

इसकी टीकामें श्रीप्रियादासजीने कहा है—

मधुकरसाह नाम कियौ लै सफल जातें
भेष गुन सार ग्रहै, तजत असार है ।
'ओरछे' कौ भूप भक्त भूप सुखरूप भयौ,
लयौ पन भारी, जाके और न विचार है ॥
कंठी धरि आवै कोइ, धोइ पग, पीवै सदा,
भाई दूखि खर गर डार्यौ माल भार है ।
पाँय परछाल कही 'आज जू निहाल किये'
हिये द्रये दुष्ट पाँव गहे दग धार है ॥
(कवित्त ४८८)

पूरी उदासीनता दिखायी, तब अन्य लोगोंने सिफारिश की कि यह तो आपकी अर्द्धाङ्गिनी हैं; इनके साथ कठोरता करनी उचित नहीं है। आपने उत्तर दिया कि—

जो तिय होइ न हरि की दासी।
कीजै कहा रूप गुन सुंदर, नाहिन स्याम उपासी॥
तौ दासी गनिका सम जानो दुष्ट कुटिल मसवासी।
निसिदिन अपनौ अंजन मंजन करत बिषै की रासी॥
परमारथ सुपनें नहिं जानत, अंध बँधी जम फाँसी।
ताके संग रंग पति जैहै, तातें भली उदासी॥

यह सुनकर पुनः बोले, ऐसा करेंगे तो आपको इनका शाप लगेगा। पुनः उत्तर दिया—

तिनुका कैसें रोकि सकै पावस परवाह नदी कौ।
हरि अनुरागिनहिं लगै सराप न, सुर नर जती सती कौ॥

तब तो सब चुप हो चले गये। इस सिद्धान्तका प्रभाव पुरोहितानीजीके हृदयपर पड़ा। वह समय पाकर इनके चरणोंमें गिरी और उसने दीनभावसे शरणमें रहनेकी प्रार्थना की—'आपकी जो आज्ञा होगी आपकी यह दासी उसे प्राणपणसे पालन करनेको प्रस्तुत है। आपके और आपके धर्म-प्रणके विपरीत रहकर यह जीना नहीं चाहती।' संतजी बोले—'अब तो यदि हरिदासी होकर वैष्णवोंकी सेवा करनी हो तब तो यहाँ तुम्हारा निर्वाह हो सकता है, नहीं तो नहीं।' स्वीकार कर लेनेपर शिक्षा-दीक्षा देकर उसका 'वैष्णवदासी' नाम रख दिया और उसे संतसेवा करनेके कार्यमें

लगा दिया । पुत्रोंके ऊपर माताकी स्वाभाविक ममता होती ही है; अतः उनके लिये प्रार्थना की तो आप फिर वही बात बोले—

पूत मूत कौ एक मग, भगत भयौ सो पूत ।
'ब्यास' बहिरमुख जौ भयौ, सो सुत मूत कपूत ॥

और—

हरि बिमुखनि जननीं जनि जावै ।
हरि की भक्ति बिनु कुलहि लजावै ॥
हरि बिनु बिद्या नरक बतावै ।
हरि नाम पढ़ै साधुनि अति भावै ॥
हरि बोलि हरि बोलि कहूँ न ध्यावै ।
हरि बोले बिनु 'ब्यास' मुँह न दिखावै ॥

बहुत कहने-सुननेपर आप मान तो गये, पर उनको आपने दीक्षा नहीं दी । एकने परम संत स्वामी श्रीहरिदासजीकी साधुताका बखान किया तो आपने उसको चतुर समझकर उनके शिष्य होनेकी आज्ञा दी और उसने स्वामीजीसे दीक्षा ली । वह 'चतुर जुगलकिशोरदास' के नामसे प्रसिद्ध है । इसका संतोंमें बहुत अनुराग था ।*

कुछ दिन संत-सेवा करते बीते । एक समय महात्मा श्रीव्यासदासजीने अपनी पूर्वगृहिणी किन्तु अब शिष्या वैष्णवदासीमें नारी-स्वभाव-सुलभ काम-विकारका कुछ ढंग देखकर उनको एकान्त-शान्तिमें समझाया—

बिनती सुनिये वैष्णवदासी ।
या सरीर में बसत निरंतर नरक ब्याधि पित खाँसी ॥

* इनकी रची हुई कविता मिलती है । व्रज छोड़कर ये अन्यत्र कहीं नहीं गये ।

ताहि भुलाइ हरिहि दृढ़ गहियौ, है सतसँग सुख रासी ।
बढ़ै सुहाग ताहि मन दीनें, और बराक बिसासी ॥
ताहि छाँड़ि हित करै और सौं, गरे परै जम फाँसी ।
दीपक हाथ परै कूवा में, जगत् करै सब हाँसी ॥
सर्वोपरि राधापति सों रति करत अनन्य बिलासी ।
तिनकी पद रज सरन ब्यास कौ गति बृंदाबनवासी ॥

श्रीवैष्णवदासीजी सारी बात समझ गयीं और तबसे उनकी कोई चेष्टा वैसी नहीं हुई । एक समय रात्रिमें सदैवकी भाँति सब संत ब्यारू करने बैठे, साथ ही श्रीव्यासदासजी भी बैठे । वैष्णवदासी पूरी परसकर दूध परसने लगीं । परसती-परसती जब श्रीव्यासदासजीको परसने लगीं तो संयोगवश इनके कटोरेमें दूधके साथ मलाई भी गिर पड़ी । वह दूध इन्होंने न पिया । ब्यारू हो चुकनेके बाद आपने कहा, 'तुमने यह क्या किया ? और सब संतोंको दूध, मुझे दूध और मलाई दोनों ! तुमने यह पंक्तिभेद किया; मेरे धर्मको तुम कलङ्क लगाना चाहती हो ? तुम यहाँसे चली जाओ, इतना भेद-भाव रखनेवाली तुम अभी संत-सेवाके योग्य नहीं हो ।' यों कहकर उसे सेवासे हटा दिया । उसने बहुत निहोरा किया परंतु उसकी एक न सुनी । उस दृढ़व्रतवाली देवीने भी यह प्रण किया कि संत-सेवा मिलेगी तो ही अन्न-जल ग्रहण करूँगी; नहीं तो नहीं । और ऐसा करके अन्न-जल त्याग दिया । श्रीव्यासदासजीसे संतजनोंने कहा, 'महात्माजी ! आप अनजानमें हुई एक साधारण-सी बातपर इतना कठिन दण्ड देंगे तो आपके आश्रित जीवका भला निर्वाह कैसे होगा ? उनका दोष भी नहीं है । यदि वे दूधसे पृथक् करके मलाई आपको लाकर

देतीं, तब तो आपका यह उलाहना कुछ ठीक भी कहा जा सकता था; किन्तु अपने-आप दूधके साथ आपके कटोरेमें मलाई गिर पड़ी इसमें उन बेचारीका क्या दोष ? आपने उनको निकाल दिया यह हम सबको अच्छा नहीं लगा। और आप यह कहें कि उन्होंने यह भूल ही क्यों की, तो बात यह है कि, 'जो सेवा करता है उससे भूल भी कभी हो ही जाती है। ऐसी अवस्थामें क्या उसे निकाल देना उचित है या समझा देना ? उनका जी दुखाया है, उन्होंने आज तीन दिन हुए अन्न-जलतक नहीं लिया है। क्षमा कीजिये'—

तिय हित बिनय संत सब कीन्हे।
ऐसो तब करार करि दीन्हे॥
भूषन बेंचि जो संत खवावै।
तौ मेरे घर आवन पावै॥

(रामरसिकावली)

यह सुनते ही उस वैष्णवदासीने तुरंत अपने अङ्गके सब आभूषण उतारकर बाजारमें बेच दिये।* और उस रकमसे रसोई बनानेका बहुत-सा सामान खरीदकर मुकाममें पहुँचा दिया। अनेक प्रकारके पदार्थ बनवाकर सेव्य श्रीजुगलकिशोरजीको भोग धराया। सभी संतों-महात्माओंको निमन्त्रण दे, बुलाकर प्रसाद कराया और सब संतोंका चरणामृत तथा सीथ-प्रसाद उसने लिया।† तब दृढ़-धर्मी

---

*कहते हैं बाईस हजार रुपयोंके हुए थे।

†तब निज भूषन बेंचिके, नारी अति हरषाय।
संत समाज बुलाइके, सादर दियौ पवाय॥

(स्व० म० श्रीरघुराजसिंहजी रीवाँ)

महात्माजीने पुनः वैष्णवदासीको संत-सेवा सौंपी। आप ऐसे पूरे विरक्त और संत-सेवी थे। इसी प्रकार परमभाग्यवती देवीजीने भी जब अपने प्रणके अनुसार दृढ़-धर्मीसे संत-सेवा ले ली तभी प्रण छोड़ा और महाप्रसाद पाया। लोगोंने चर्चा की कि 'देखो इसने अपने पतिके जीते-जी सब शृङ्गार उतार दिया; जरा भी लोक-लाज न रक्खी ?' इसपर परमभक्तिमती श्रीवैष्णवदासीजी कुछ न बोलीं, पर महात्माजीने सबको सुनाया--

व्यास भक्ति सहगामिनी टेरें कहत पुकारि।
लोक लाज तब ही गई, बैठी मूँड़ उघारि॥

ओड़छासे परमभक्त महाराजाने सेव्य श्रीयुगलकिशोरजीको धारण करानेके लिये स्वर्णकी एक नकसीदार सुन्दर वंशी बनवाकर भेजी। उसको आप बड़े चावसे प्रभुके करमें धारण कराने लगे। कुछ मोटी थी, जिससे प्रभुकी अँगुली किञ्चित् छिल गयी; रक्त निकल आया। यह देख आपने वंशीको पटक दिया और तुरंत जलमें भिगोकर एक कपड़ा अँगुलीमें बाँध दिया।* मनमें बहुत पछताये; महाप्रसाद नहीं पाया। वंशीको दोष देने लगे। सायङ्काल प्रभुने अपने-आप वंशी धारण कर ली जिसको देखकर आप अत्यन्त आनन्दित हुए।

---

* वह वस्त्र आज भी आपके परम धन प्रभु अपनी अँगुलीमें बाँधे रहते हैं। अब 'पन्ना' में हैं। श्रीव्यासदासजी निकुञ्ज पधारे, पश्चात् महाराजा वृन्दावनसे ले गये। वृन्दावनमें उनकी जगह दूसरी युगल मूर्ति विराजमान हैं। स्थल व्यास-घरोंके नामसे प्रसिद्ध है।

किसी समय महाराजकी भेजी हुई एक सुन्दर जरकसी पाग आयी। आप प्रभुके मस्तकपर बाँधने लगे; किन्तु नयी और जरकसी होनेके कारण जैसी बाँधनी चाहते थे वैसी बँधती नहीं थी, खिसक जाती थी। ऐसे बहुत बार खिसकती देख झुँझलाकर उसे वहीं छोड़—'लीजिये, मेरी बाँधी पसंद न आती हो तो आप ही बाँधिये'—कहते हुए रिसियाकर सेवा-कुञ्जके दरवाजेपर जा बैठे। यहाँ प्रभुने स्वयं पाग बाँध ली। दर्शकोंने इनकी बड़ाई की कि, 'आपको धन्य है, आज आपने प्रभुको बड़ी सुन्दर पाग बाँधकर हमको दर्शनोंका लाभ दिया।' इतना सुनते ही आप तुरंत दौड़े। आकर देखते हैं तो सचमुच मनमानी पाग बाँधी है। गद्गद हो गये। प्रेमावेशमें बोल उठे—'अरे सुघड़ सलोने! तुझे अपनी ही बाँधी पसंद है; खूब सुन्दर बाँधी है। इसके सामने भला मेरी बाँधी क्यों पसंद करने लगा?'

संत श्रीव्यासदासजी भजन-भावना और रासरंगमें जितने गहरे रसिक थे उतने ही संत-सेवा करनेमें भी पूरे परमार्थी थे। इनके पास सदैव संतजनोंकी मण्डली आती-जाती रहा करती। ये सबके आगे विनम्रभावसे हाथ जोड़े रहते, उनको सब प्रकार सुख देते। संतोंका आना इनको बड़ा प्रिय लगता, पर उनका जाना दुःखका कारण बन जाता। इसलिये जहाँतक बनता ये संतोंको रोक रखनेका प्रयत्न करनेमें कोई कसर नहीं करते, पुनः आनेकी प्रार्थना भी करते। संत भी इनके शीलस्नेहयुक्त निश्छल स्वभावके कारण इनके पास घिरमे रहते। वे कहा करते—

श्रीवृन्दावनमें मंजुल मरिबौ ।
जीवन्मुक्त सबै ब्रजबासी पद रज सों हित करिबौ ॥
जहाँ स्याम बछरा ह्वै गायनि चौंपि तृननि कौ चरिबौ ।
हरि बालक गोपिन पय पीवत हरि आँकौ भरि मिलिबौ ॥
सात रात दिन इंद्र रिसानौ, गोबरधन कर पर धरिबौ ।
प्रलय मेघ मघवाहि बिमद करि कहि सब सों नहिं डरिबौ ॥
अघ बक बकी बिनासि रास रुचि सुखसागरमें तरिबौ ।
कुंज भवन रति पुंज चयनि करि राधाके बस परिबौ ॥
ऐसे प्रभुहिं पीठि दै लोभ रति माया जीवनि जरिबौ ।

एक संत पुरुष इनकी सरल साधु-वृत्ति, संत-सेवा और सहनशक्तिके यशको सुनकर परीक्षा लेने पधारे । मन्दिरके भीतर प्रवेश करते ही भोजन माँगा । बोले, 'हमारे रामको बड़ी क्षुधा सता रही है; शीघ्र भोजन कराओ; भूखे नहीं रहा जाता है ।' ये हाथ जोड़कर बोले, 'संतजी ! प्रभुको भोग धराये बिना आपको कैसे भोजन कराया जाय ? आइये शान्तिसे विराजिये, बहुत देर नहीं है; थोड़ी देरमें अभी राजभोग लगेगा, धीरज रखिये ।' इतना सुनते ही संतजी इनको गालियाँ-पर-गालियाँ देने लगे । संत-सेवी श्रीव्यासदासजीने मौन होकर बैठे-बैठे उनकी वह सब गालियाँ ऐसे सुनीं, जैसे कोई अपनी प्रशंसाके वचन सुनकर प्रसन्न होता है । दर्शकोंमेंसे किसीने उनको यह कहकर गालियाँ देनेसे मना करना चाहा कि 'आपका ऐसा क्या काम बिगाड़ दिया है जो गालियाँ दे रहे हो ।' इतनेमें इन्होंने तुरंत यह कह समझाया कि ये गालियाँ नहीं हैं ।

'व्यास बड़ाई और की जु मेरे मन धिक्कार ।
संतन की गारी भली यह मेरौ सिंगार ॥

इतनेमें भगवान् श्रीजुगलकिशोरजीके राजभोग लग चुका। तब महात्माजीने एक बड़ा थाल भरकर संतजीके आगे रक्खा और हाथ जोड़कर बोले, 'कृपा करके आप यह प्रसाद पा लीजिये। जो बाकी रही हों उन्हें फिर देना।' संतजी प्रसाद पाने बैठे और यह उनको हवा करने लगे। संतजीने महाप्रसाद पाकर बची हुई जूठनकी थाल यह कहकर इनके मस्तकमें मारी कि 'ले, यह तेरा भाग है।' महात्माजीने बार-बार उनके चरणोंमें अपना मस्तक नवाया और वह सब जूठन समेटकर आप पाने लगे।

अब परीक्षक संत पुरुषजीसे न रहा गया। वह अत्यन्त आनन्दित होकर धन्य-धन्य कहने लगे, चरण छूने लगे और बोले—'मैं आपकी साधु-सेवाकी उत्कृष्टताको सुनकर परीक्षा करने आया था। इसमें सन्देह नहीं कि उस सुनी हुई बातसे कई गुना अधिक आप निश्चल, सात्त्विक और श्लाघनीय महात्मा हैं।' ये बोले—'यह सब आप संतोंकी परम कृपाका प्रताप है। इसीसे मुझे—

भावत हरि प्यारे के प्यारे।
जिनके दरस परस हरि पाये, उघरे भाग हमारे॥
दूरि भये दुख दोष हृदयके कपट कपाट उघारे।
भवसागर बूड़त हमसे अपराधी बहुत उबारे॥
भूत पितर देई देवा सों झगरे सकल निवारे।
सुक मुखबचन रचन कहि कोटिक बिगरे 'ब्यास' सुधारे॥

परीक्षक संत अपनी साधुताको इनकी साधुताके आगे तुच्छ मानने लगे—

इनकी महाप्रसादनिष्ठा भी अपूर्व थी । ये अपने सेव्य श्रीजुगलकिशोरजीका महाप्रसाद तीन सौ साठ दिन समान रीतिसे सेवन करते थे । अपने इष्टदेवके जो पदार्थ भोग लग चुका उस श्रीमहाप्रसादके एक कनिकाको ही समस्त व्रतोंसे विशेष महत्त्वयुक्त व्रत मानते थे; और इसमें ये दृढ़व्रती थे । इनके इस महाव्रतमें यदि कोई नूतन संत इनके यहाँ आते और वह एकादशीके दिन महा-प्रसाद पाते देख शङ्का करते तो आप उनको तुरंत कह दिया करते थे कि 'भगवन् ! मैं एकादशीका भक्त नहीं हूँ; मैं तो—

(श्री) राधावल्लभ कौ हौं भावतौ चेरौ ।
राधावल्लभ कहत सुनत ही, मन न नेम जम केरौ ॥
राधावल्लभ वस्तु भूलिहूँ कियो अनत नहिं फेरौ ।
राधावल्लभ व्यासदास के सुनहु स्रवन दै टेरौ ॥*

इसी हेतुसे—

हमारी जीवन मूरि प्रसाद ।
अतुलित महिमा कहत भागवत, मेटत सब प्रतिबाद ॥†

---

* कहनी करनी करि गयौ एक व्यास इहि काल ।
लोक वेद तजिके भजे राधावल्लभ लाल ॥

(श्रीहितध्रुव-वाणी)

† यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः ।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥

(श्रीमद्भा० ९ । ५ । १६)

जो षटमास व्रतनि कीने फल, सो इक सीथ के स्वाद ।*
दरसन पाप नसात, खात सुख, परसत मिटत बिषाद ॥
देत लेत जो करै अनादर, सो नर अधम गवाद ।†
व्यास प्रीति परतीति रीति सों जूँठनि ते गुन नाद ॥

यह अपने परम पूज्य श्रीगुरुदेव हितप्रभुजीकी भाँति विधि-निषेधके झंझटसे एकदम पृथक् थे । आप जब-तब कहा भी करते—'व्यासहि अब जिनि जानियौ, लोक बेद कौ दास ।' अन्तमें आप अपना अहोभाग्य किस प्रकार मानते हैं, यह भी देखने ही योग्य है । कहते हैं—

---

* षड्भिर्मासोपवासैस्तु यत्फलं परिकीर्तितम् ।
विष्णोर्नैवेद्यसिक्थेन तत्फलं भुञ्जतां कलौ ॥ (स्कन्दपुराण)

'छः महीनेतक एकादशी इत्यादि व्रत-उपवास करनेसे जितना फल शास्त्रोंमें लिखा है, उतना फल तो भगवान् श्रीहरिके नैवेद्यका कणमात्र पानेसे प्राप्त हो जाता है ।'

एकादशीसहस्रेण द्वादशीनां शतेन च ।
यत्फलं लभते गौरि विष्णोर्नैवेद्यभक्षणात् ॥ (पद्मपुराण)

'हे गौरि ! हजारों एकादशी, सैकड़ों द्वादशी इत्यादिका व्रत करनेसे जो फल होता है, वह फल केवल श्रीहरिका महाप्रसाद सेवनमात्रसे होता है ।'

† स्वतः एकादशी ऋषि-मुनियोंके समक्ष कहती है—
प्रसह्य हरिदत्तान्नं ये भुञ्जन्ति नरोत्तमाः ।
तान् विलोक्य पवित्राहमेकादशी द्विजोत्तमाः ॥ (नारदपाञ्चरात्र)

'जो उत्तम मनुष्य बलात्कारसे भी श्रीहरिप्रसादको मेरे दिन पाते हैं, हे उत्तम द्विजो ! उनको देखकर (उनके दर्शनसे) मैं एकादशी स्वतः पवित्र होती हूँ ।'

तन अबही कौ कामै आयौ ।
साधु चरन कौ संग कियौ, जिनि हरिजू कौ नाम लिवायौ ॥
धन्य बदन मेरौ, जिनि रसिकन कौ जूठौ खायौ ।
रसना मेरी धन्य, अनन्यनि कौ चरनोदक प्यायौ ॥
धन्य सीस मेरो, श्रीराधा रवन रेनु रस लायौ ।
धन्य नैन मेरे, जिनि बृंदाबन कौ सुख दिखरायौ ॥
धन्य श्रवन मेरे, श्रीराधा रवन बिहार सुनायौ ।
धन्य चरन मेरे, श्रीबृंदाबन गहि अनत न धायौ ॥
धन्य हाथ मेरे, जिनि कुंजनिमें मंदिर छायौ ।
धन्य व्यास के श्रीगुरु, जिनि सर्बोपरि रंग बतायौ ॥
व्यास भक्ति कौ फल लह्यौ, बृंदाबन की धूरि ।
हित हरिबंस प्रताप तें पाई जीवनि मूरि ॥

इनका परिचय रसीले सुलेखक श्रीवियोगी हरिजीने अपनी प्यारी लेखनीसे जिन मधुर शब्दोंमें दिया है, वह इस प्रकार है—

भक्त सिरोमनि 'व्यास', ओरछा नगर निवासी ।
श्रीहरिबंस प्रसंस शिष्य हित धाम बिलासी ॥
अनुरागी रसमसो रँगीलो राधा पी को ।
बिधि निषेध मग त्यागि पान किये घूँट अमी को ॥
राधावल्लभ सेइ निगम की कानि न राखी ।
ब्रज बिहार पद गाय कही अति साँची साखी ॥
रसिकाभरन अनन्य 'व्यास', जय आनँद रासी ।
श्रीब्रजचंद चकोर राधिका चरन उपासी ॥

मामा श्रीप्रयागदासजी

गुन गौरव औ कृति कीर्ति पराइ बिलोकि हियो बिगसात अहै ।
अघ दोष न देखत काहु के जे, जेहि देखत दोष नसात अहै ॥
अकलंक मयंक सुभानन तैं वचनामृत 'बिंदु' चुचात अहै ।
तिनकी पग धूरि सुमंगल मूरिहि भूरि मेरो प्रनिपात अहै ॥१॥
जिनके सुचि सीतल सील में जायके कोप की आग बुझात अहै ।
लहि वारि प्रसंसाहु मानस जो सकुचानहि में बढ़ि जात अहै ॥
समसील उदार सबै जगतो जेहि राममयी दिखरात अहै ।
अस संत अनंत समान कोऊ बहु 'बिंदु' तिन्हैं प्रनिपात अहै ॥२॥

आयो धौ यहि काल कस, अति दुकाल हा हंत !
गयो जु उड़ि केहि व्योम वै राजहंस अरु संत ॥

प्राचीन कालमें ऐसे अनेक संत हुए हैं, जिन्होंने अपनी आत्मामें परमार्थको सार्थक और इस प्रकार भक्ति-ज्ञान और वैराग्यको चरितार्थ किया था । वे आत्मदर्शी सिद्ध थे । परमात्मतत्त्व उन्हें सिद्ध था । अतएव वे आध्यात्मिक महात्मा थे । उनका हृदय आत्मसरोवरका पुण्डरीक था । वे उच्च कोटिके भावुक और प्रेमी थे, पर उनका विहारस्थल आत्मा था अथवा वह मन, जो उस आत्मसरोवरमें निमज्जित होकर चिदाकार हो चुका था । वे आत्माराम और आत्म-क्रीड थे । उनकी रति-गति आत्मामें थी । वहीं वे अपने रामसे खेलते और लाड़ लड़ाते थे । उनके हृदयकी आँखें खुली हुई थीं और वे समदर्शी थे । उनके लिये सम्पूर्ण जगत्, कहीं चित्रकूट, कहीं मिथिला, कहीं वृन्दावन और कहीं अयोध्या हो रहा था ।

मधुर रस राते मदसे माते ।
कबहुँ बिहँसि नयना भरकाते, कबहुँ ताल दै गाते ।
सहित उछाह प्रिया प्रियतम पर कल्प सुमन बरसाते ॥
चित्रकूट मिथिला बृंदाबन कुंज कुंज रमि जाते ।
'केशी' सुगम ध्यान धारणा जीवन को फल पाते ॥

(भगवती मञ्जुकेशी देवी)

उन्हें सर्वत्र 'सियाराम' ही दिखायी देते थे। उनके लिये परत्व यदि कहीं था, तो केवल अद्वैत परमतत्त्व परब्रह्ममें ही। वे क्या करते, उनके रामने तो समस्त दिशाओंको अपना क्रीडास्थल बना लिया था। फिर बेचारा द्वैत अपनी विरोधलीला कहाँ दिखाये। पहले तो उनके रामने उनके सम्पूर्ण हृदयको ही अधिकृत कर लिया, पुनः उनके अखिल वातावरण (दिग्व्योम) को घेरकर उनकी इन्द्रियोंके सब रास्तोंमें अड़ गये। कोई जाय तो कहाँ जाय !

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

(श्रीमानस)

उस नवल नटनागरके नेपथ्यमें पहुँचकर उन्होंने देखा कि वही राम है जो साकेतके पूर्णैश्वर्यपीठ सार्वभौमचक्रवर्ति-राज्यसिंहासन-पर अखिल जगन्नायक होकर सुशोभित हैं और वही वृन्दावन आदि कुञ्जोंमें कुञ्जनायक होकर रमण कर रहा है। उन्हें उसकी क्रीडामें सम्मिलित होना था, अतः जहाँ-जहाँ वह नायक वहाँ-वहाँ उसके वे सहायक—जहाँ-जहाँ कमल वहाँ-वहाँ मधुकर, जहाँ-जहाँ शर्करा वहाँ-वहाँ पिपीलिका। रसको रसिक कैसे छोड़े ? रस-

रसाकरमें डूबे हुए रस-भोगी भला, तर्कके कटु कर्कश कर्कटसे अपने कोमल अङ्ग क्यों कटाने लगे ? उस परम प्रियतमने उन्हें इतना लुभा लिया है, इतना अपना लिया है, उन्हें इस तरह अपनेमें आसक्त कर रक्खा है, कि उसके सौन्दर्य-माधुर्यके आस्वादनसे उन्हें अवकाश ही नहीं ! वे तो उस प्रेयान् रसके ग्रहण करनेके एक करणमात्र होते हैं—उनकी एक ही ब्रह्माकारवृत्ति होती है। रसिकता-का यही स्वरूप ही है। यथार्थ वस्तु-ज्ञान या विशेषज्ञता ही मार्मिकता है और मार्मिकता ही रसज्ञता है तथा रसज्ञता ही यथार्थ रसिकता है। यहाँ ज्ञान और रस अथवा प्रेम भिन्न पदार्थ नहीं, किसी चिन्मय और अद्वितीय तत्त्वके वे गुण-धर्म अथवा विशेषणमात्र हैं। सूफियोंका यही लक्ष्यस्थान है—

राम रहस के ते अधिकारी।
जिन को मन मरि गयो, और मिटि गई कलपना सारी॥
चौदह भुवन एक रस दीखै, एक पुरुष, एक नारी।
'केशी' रामनाम सोइ जानै, ध्यावै अवधबिहारी॥

जो भरे-पूरे होते हैं, उन्हींमें रसिकता और क्रीडासक्ति उत्पन्न होती है। उनका जीवन ही सुख-विलासमय होता है। उन्हें अपने प्राणारामसे अवकाश ही इतर भावनाओंके लिये कहाँ ? मन-बुद्धि और उनके चित्तको तो उसने अपनेमें लीन कर लिया है। लखनऊ-के नवाब वाजिदअलीशाहसे मदोन्मत्त मौलवियोंने श्रीअयोध्याजीकी जन्मभूमिपर आक्रमण करनेके लिये बहुत आग्रह किया, तब उनकी दरख्वास्तपर उन्होंने यह शेर लिखकर दस्तखत कर दिये—

हम बन्दए-इश्क़ हैं, मज़हबसे नहीं वाक़िफ़।
काबा हुआ तो क्या, बुतख़ाना हुआ तो क्या॥

जब एक रागासक्त प्राकृत रसिकके हृदयमें द्वेष-दुराग्रहके लिये स्थान नहीं रह जाता, तब भगवद्रसिक समता और निर्विरोधता-की किस काष्ठातक पहुँच जायगा, यह सहृदयजन सहज ही अनुमान कर सकते हैं। संतोंकी यह विशेषता है कि वे समशील और उदाराशय होते हैं। समता ही वह भूमिका है, जिसमें उदारता, विश्वबन्धुता, सर्वात्मीयता और दयालुता आदि दिव्य लताएँ उत्पन्न होती हैं। भगवद्भक्त होनेका यह लक्षण है, भगवच्चरणों-में चित्तसमर्पणका यह प्रमाण है कि उसमें भगवदीय दिव्य गुणोंका उद्गम हो। भगवान्‌के भक्त भगवान्‌से भी अधिक माने जाते हैं—'राम ते अधिक राम कर दासा।' उसका हेतु यह है कि यदि भक्त न होते तो भगवान्‌को कौन जानता और जनाता, कौन मानता और मनाता? यदि वेदोंने भगवान्‌की भावना उत्पन्न की है, तो भक्तों या संतोंने भगवान्‌को उत्पन्न किया है—'लोग कहते हैं कि दहको माबूदने पैदा किया। मैं वह खालिक हूँ कि मेरे 'कुन' से खुदा पैदा हुआ।' भगवान् भक्तोंके हैं और भक्तोंके लिये हैं, इसी प्रकार भक्त या संतजन भगवान्‌के हैं और भगवान्‌के लिये हैं—

जद्यपि राम सीवँ समता के। भरत सनेह सिंधु ममता के॥

आज ऐसे ही भगवान्‌के एक अलबेले भावुक संतकी कुछ चर्चा करके अपनी वाणीको कृतार्थ करनेकी इच्छा है।

जनकपुरमें एक ब्राह्मणी माता रहती थी। उसके पति स्वर्गमें थे और विपत्ति उसके घरमें। उसका एकमात्र पुत्र प्रयागदत्त था। एक दिन उसने अपनी मातासे पूछा—'माँ! क्या मेरे और कोई नहीं है।' माताने बच्चेके सन्तोषार्थ कह दिया—'हाँ, बेटा! तुम्हारे

है क्यों नहीं कोई । तुम्हारे बहनोई हैं । वे चक्रवर्ती राजाधिराज हैं । अयोध्या उनकी राजधानी है ।' मिथिलाकी माताएँ स्वभावतः श्रीजनकनन्दिनीके प्रति पुत्री या भगिनीभाव रखती हैं । बच्चेने कहा—'तो, माँ ! मैं उनके पास जाऊँगा ।' माता बोली—'अच्छा, कुछ और बड़े हो तब जाना ।' इस प्रकार टाल दिया । लेकिन बालकके हृदयमें बहनोई बस गये । उसकी सुरति बहनोईमें लग गयी । किसी तरह कुछ दिन बीते । फिर एक दिन प्रयागदत्तने मातासे कहा—'माँ ! अब तो मैं सयाना हो गया । अब मुझे बहनोईके पास जाने दो ।' माताने उत्तर दिया—'अच्छा, ठहरो, मैं तैयारी कर दूँ, बहिनके लिये कुछ लेते जाओ ।'

माताने चावलोंके कुछ कण इकट्ठे किये थे । उन्हें पीसकर और मीठा मिलाकर कुछ मोदक बनाये, जिन्हें मिथिलामें 'कसार' कहते हैं । उन कसारोंकी पोटली प्रयागदत्तको देकर विदा किया और कुछ सत्तू उनके खानेके लिये भी दे दिया ।

प्रयागदत्त बहिन-बहनोईसे मिलने बड़ी प्रसन्नता और उत्सुकता-से चले । मनमें यही होता कि कैसे जल्द और जल्दसे भी जल्द अयोध्या पहुँच जाऊँ । अगर पर होते तो वे जरूर उड़ जाते ! तब भी न आकाशमें सही पृथ्वीपर उड़तेही-से जा रहे हैं । जहाँ कहीं अपने शारीरिक कृत्यके लिये ठहरते हैं, किसी वृक्षकी डालमें वह पोटली टाँग देते हैं । इस प्रकार कुछ दिनोंमें वे अयोध्याजी पहुँच गये ।

अयोध्यामें प्रयागदत्त अपने चक्रवर्ती बहनोईको खोजने लगे, जिससे पूछते, वह हँस देता । बेचारे बहुत परेशान हुए । बहनोईजी

कहीं नहीं मिले । मणिकूटकी ओर गये । वहाँ भी खोजते रहे । फिर तंग आकर एक जगह (जहाँ सीताकुण्डको जानेवाले रास्तेके दक्षिण सघन विटपावलिसे आच्छादित पुरानी मसजिद है, जिसमें पूर्वमें हनुमन्निवास-श्रीअयोध्याके महात्मा बाबा गोमतीदासजी महाराज भजन करते थे) बैठ गये । बहुत थक गये थे । बहनोई-जीको रिश्तेसे खूब गालियाँ देने लगे । कहने लगे—'देखो इतना ढूँढ़ा, हैरान हुआ, कहीं मिलता ही नहीं । न जाने कहाँ रहता है ? अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ?' इतनेमें एक श्वेत हाथीपर सोनेकी अम्बारीमें विराजे हुए उनकी बहिनसहित बहनोई साहब आ निकले ! हाथी वहीं साले साहबके पास बैठ गया । श्रीकिशोरीजीने पूछा—'भैया ! माताने हमारे लिये कुछ दिया है ?' भैयाकी तो गति ही अचिन्त्य हो गयी । किसी तरह अपनेको सँभालकर कहा—'हाँ, बहिन ! यह है, लो ।' पोटली दे दी और बोले—'मैंने तो बहुत खोजा, तुमलोग मिले ही नहीं । न जाने कहाँ रहते हो ! कोई बताता ही नहीं ।' श्रीकिशोरीजीने पोटली लेते हुए कहा—'हाँ, भैया ! तुम्हें कष्ट तो बहुत हुआ । क्या करें, हमलोग ऐसी जगह रहते हैं, जिसे सब लोग नहीं जानते ।' जगन्माताने माताकी भेजी हुई और भैयाकी दी हुई उस पोटलीमेंसे दो कसार निकाल लिये और शेष प्रयागदत्तको देते हुए कहा—'भैया ! इन्हें तुम खाना । और अब तुम जाओ घर, माता चिन्ता करती होगी । कुछ दिनोंके बाद फिर आ जाना और मातासे कह देना कि हमलोग बड़े सुखसे हैं । फिर मिलेंगे ।' हाथी खड़ा हो गया और कुछ दूर जाकर अदृश्य !

मामाजी अपने बहिन-बहनोईके ध्यानमें विह्वल वहीं पड़े रहे । वाणी रुद्ध और नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह जारी था । दूसरे दिन दिनकर-

करों और दक्षिणानिलके स्पर्शसे उनकी चेतना जाग्रत् होने लगी और दशा सँभलने लगी। उधर ही एक संत आ निकले। उन्होंने देखा कि एक सुन्दर-सुगौर कुमार बेतरह पड़ा हुआ है। निकट जाकर उसे ध्यानसे देखा और हाल पूछा। यद्यपि उसने ठिकानेसे कुछ बताया नहीं तथापि महात्मा रहस्य ताड़ गये। निकट ही उनकी गुफा थी। प्रयागदत्तको वहीं ले गये। उचित उपचार किया। स्नान-जलपान कराया। जब वे सावधान हुए तब फिर एक बार उन्होंने उनका हाल पूछा। पूछते ही फिर वे रो पड़े। महात्माजी भी आर्द्र हो गये। कुछ देरतक यही दशा रही—

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥

अनन्तर प्रकृतिस्थ होनेपर प्रयागदत्तजीने स्वयं महात्माजीसे अपना सब वृत्तान्त कहा। महात्माजीने गद्गद होकर उन्हें छातीसे लगा लिया।

मेरे प्यारे का यह भी प्यारा है। मेरी आँखोंका भी सितारा है॥

घड़ी रात गये कुछ ग्रामीण माताएँ आयीं और दो भोग-थाल निवेदन करती हुई बोलीं—'आज हमारे यहाँ भगवान्‌की पूजा और कथा हुई है। यह प्रसाद आपलोगोंके लिये लायी हैं। ले लीजिये, थाल सबेरे चले जायँगे। हमें घर जल्द पहुँचना है। रात हो गयी है।' थाल रखकर यह कहती हुई वे तुरंत उलटे पैर लौट गयीं। थाल न जाने किस खानके अद्भुत सोनेके थे। उनपर पुरैनके पत्ते बिछे थे, जिनपर नाना प्रकारके व्यञ्जन चुने थे। महात्माजी और मामाजी मन्त्रमुग्धकी तरह देखते रह गये। पीछे जब महात्माजीने

पत्ते टालकर थाल देखे, तब हैरान रह गये । रहस्य समझ गये। जगज्जननी बहिनने भाईकी पहुनाई की !

सहृदय महात्माजीने प्रयागदत्तजीको प्रेमसे खिलाया और स्वयं भी पाया । उन लोकोत्तर रसास्वादमय दिव्य भोगोंका सेवन करके वे दोनों महात्मा मस्त हो गये । वे सब पदार्थ भगवद्रस (ब्रह्मानन्द) से सने हुए थे, स्थूलताका हरण करनेवाले थे और चेतनताका सञ्चार करनेवाले । तत्काल नवीन तेज, नवीन बल और नवीन चेतनतासे शरीर चमक उठे । मामा प्रयागदत्तजीका सारा श्रम और ग्लानि क्षणभरमें कपूरकी तरह उड़ गयी । हृदय-कमल आनन्दरस-सरोवरमें लहराने लगा ।

प्रातःकाल प्रयागदत्तजीको विदा करते हुए महात्माजी वे दोनों स्वर्ण-थाल साफीमें लपेटकर उन्हें देने लगे; क्योंकि उनका कोई लेनेवाला न आया और न आनेवाला था । परन्तु प्रयागदत्तजीने नहीं लिया, बोले कि 'माता रिसायगी, कहेगी कि बहिनकी चीज क्यों लाये ? वह कन्याकी वस्तु कैसे लेगी ?' अस्तु, बाबाजी उनके साथ गये और रास्तेपर पहुँचाकर जब लौटे, तब थाल ले जाकर गणेशकुण्डमें डाल दिये—

रमा बिलास राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥

बहिन-बहनोईकी भावनामें मस्त प्रयागदत्तजी घर पहुँचे । माताने पूछा । सब हाल कह सुनाया । पुत्रका वृत्तान्त सुनकर माता चकित रही और बहुत प्रसन्न हुई । हृदयके तलसे एक प्रबल परन्तु गम्भीर करुण-स्रोत फूट निकला और आँखोंमें छलछला उठा ।

साल बीतने भी नहीं पाया कि जगन्माताका अंश वह माता पतिलोकको प्रयाण कर गयी । प्रयागदत्तजी अकेले रह गये । घरमें और कोई भी नहीं । माताके देव-पितृ-कर्मके बाद अकेला पाकर वैराग्य और अनुराग, दोनों उन्हें पूर्णतया अधिकृत करने लगे । इधर पासहीके एक ग्रामके पण्डितजी उन्हें अपना जामातृ बनानेके लिये घेरने लगे । सुसम्पन्न और प्रतिष्ठित ब्राह्मण थे । चाहते थे कि प्रयागदत्तको जमाई बनाकर अपने घर रक्खें और अपना उत्तराधिकारी बनायें । उनके भी एकमात्र कन्या रह गयी थी । पुत्र स्वर्गगामी हो चुके थे । यद्यपि प्रयागदत्त दीन और दरिद्र थे, पर रूप, शील और कुलसे सम्पन्न थे । उनके पूर्व-पुरुषोंमें अनेक यशस्वी विद्वान् हुए हैं । उनके पिता भी सात्त्विक गुणोंसे मण्डित एक प्रतिष्ठित पण्डित थे । जनताकी उनमें बड़ी श्रद्धा थी । बहुत लोग उनके शिष्य थे । अच्छी सम्पत्ति सञ्चित थी । परन्तु काल-चक्रने पलटा खाया । उनके जीवनके अन्तके साथ ही उनकी सम्पत्तिका भी अन्त हो गया । अग्निदेवने दैवात् सर्वस्व स्वाहा कर दिया—जो कुछ घरमें था, घरसहित जल गया । माता केवल उस अपूर्व धन-रत्न शिशु प्रयागदत्तको दोनों करोंसे समेटकर और अपने अङ्कमें भरपूर भरकर बचा सकी थी । उस समय भाग निकलना ही उसका परम भागधेय था । लोगोंने कहा कि 'लड़का अभागा है, कुलच्छन है । पिताका भी भक्षण किया और धन-सम्पत्तिका भी ।' पर उसका भाग्य-भानु किस अलौकिक आकाशमें चमकनेवाला है, यह किसीको क्या मालूम ! यद्यपि असमयमें पिताके परलोकगत होनेसे प्रयागदत्तजी लौकिकी-वैदिकी

विद्याओंके अधिकारी नहीं हो सके; परन्तु सब विद्याओंकी चरमा चेतना ब्रह्मविद्याका मधुर फल तो उन्हें प्राप्त ही हो गया। और साक्षर भी हो ही गये थे। यद्यपि पढ़नेमें उनका मन नहीं लगता था तथापि कुशाग्रबुद्धि होनेसे अल्प कालहीमें उन्होंने सारस्वत, अमरकोश और मुहूर्तचिन्तामणि भी पढ़ ही ली। फिर तो दूसरा ही रंग चढ़ गया। अस्तु, कन्यादानेच्छु पण्डितजीको प्रयागदत्तजीने कोरा जवाब दे दिया। उनके प्रस्तावसे वे घबरा भी उठे और झट अयोध्याको चल पड़े। चाहे वैसे दो दिन बाद ही जाते लेकिन अब वे कहाँ रुकते हैं!

श्रीअयोध्याके पथपर पैर रखते ही प्रयागदत्तजीकी दशा ही निराली हो गयी। ऐसी उतावली हुई कि कैसे वे जल्द-से-जल्द वहाँ पहुँच जायँ।

मानसनन्दिनी (सरयूजी) में स्नान करके परापुरी आनन्दिनी (श्रीअयोध्या) की पावन भूमिकामें प्रयागदत्तजीने प्रवेश किया। उषादेवीने आरती की। दक्षिणानिलने फूल बरसाये। पहले वे मणिकूटके उसी स्थलविशेषपर सीधे पहुँचे, जहाँ उनके बहिन-बहनोई मिले थे। कुछ देर वहाँ बैठे। पर उनके मिलनेकी ऐसी धुन उन्हें सवार थी कि विश्राम करनेके लिये भी अवकाश नहीं था। कुञ्जों और झाड़ियोंमें चारों ओर उन्हें ढूँढ़ते फिरे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पूर्वपरिचित बाबाजी श्रीत्रिलोचन स्वामीकी ओर निकल गये। महात्माजीने इन्हें पहचाना और प्रेमपूर्वक स्वागत किया। विश्राम कराया। इनकी विह्वलता शान्त करनेके लिये उन्होंने अनेक

साल बीतने भी नहीं पाया कि जगन्माताका अंश वह माता पतिलोकको प्रयाण कर गयी । प्रयागदत्तजी अकेले रह गये । घरमें और कोई भी नहीं । माताके देव-पितृ-कर्मके बाद अकेला पाकर वैराग्य और अनुराग, दोनों उन्हें पूर्णतया अधिकृत करने लगे । इधर पासहीके एक ग्रामके पण्डितजी उन्हें अपना जामातृ बनानेके लिये घेरने लगे । सुसम्पन्न और प्रतिष्ठित ब्राह्मण थे । चाहते थे कि प्रयागदत्तको जमाई बनाकर अपने घर रक्खें और अपना उत्तराधिकारी बनायें । उनके भी एकमात्र कन्या रह गयी थी । पुत्र स्वर्गगामी हो चुके थे । यद्यपि प्रयागदत्त दीन और दरिद्र थे, पर रूप, शील और कुलसे सम्पन्न थे । उनके पूर्व-पुरुषोंमें अनेक यशस्वी विद्वान् हुए हैं । उनके पिता भी सात्त्विक गुणोंसे मण्डित एक प्रतिष्ठित पण्डित थे । जनताकी उनमें बड़ी श्रद्धा थी । बहुत लोग उनके शिष्य थे । अच्छी सम्पत्ति सञ्चित थी । परन्तु काल-चक्रने पलटा खाया । उनके जीवनके अन्तके साथ ही उनकी सम्पत्तिका भी अन्त हो गया । अग्निदेवने दैवात् सर्वस्व स्वाहा कर दिया—जो कुछ घरमें था, घरसहित जल गया । माता केवल उस अपूर्व धन-रत्न शिशु प्रयागदत्तको दोनों करोंसे समेटकर और अपने अङ्कमें भरपूर भरकर बचा सकी थी । उस समय भाग निकलना ही उसका परम भागधेय था । लोगोंने कहा कि 'लड़का अभागा है, कुलच्छन है । पिताका भी भक्षण किया और धन-सम्पत्तिका भी ।' पर उसका भाग्य-भानु किस अलौकिक आकाशमें चमकनेवाला है, यह किसीको क्या मालूम ! यद्यपि असमयमें पिताके परलोकगत होनेसे प्रयागदत्तजी लौकिकी-वैदिकी

विद्याओंके अधिकारी नहीं हो सके; परन्तु सब विद्याओंकी चरमा चेतना ब्रह्मविद्याका मधुर फल तो उन्हें प्राप्त ही हो गया। और साक्षर भी हो ही गये थे। यद्यपि पढ़नेमें उनका मन नहीं लगता था तथापि कुशाग्रबुद्धि होनेसे अल्प कालहीमें उन्होंने सारस्वत, अमरकोश और मुहूर्तचिन्तामणि भी पढ़ ही ली। फिर तो दूसरा ही रंग चढ़ गया। अस्तु, कन्यादानेच्छु पण्डितजीको प्रयागदत्तजीने कोरा जवाब दे दिया। उनके प्रस्तावसे वे घबरा भी उठे और झट अयोध्याको चल पड़े। चाहे वैसे दो दिन बाद ही जाते लेकिन अब वे कहाँ रुकते हैं!

श्रीअयोध्याके पथपर पैर रखते ही प्रयागदत्तजीकी दशा ही निराली हो गयी। ऐसी उतावली हुई कि कैसे वे जल्द-से-जल्द वहाँ पहुँच जायँ।

मानसनन्दिनी (सरयूजी) में स्नान करके परापुरी आनन्दिनी (श्रीअयोध्या) की पावन भूमिकामें प्रयागदत्तजीने प्रवेश किया। उषादेवीने आरती की। दक्षिणानिलने फूल बरसाये। पहले वे मणिकूटके उसी स्थलविशेषपर सीधे पहुँचे, जहाँ उनके बहिन-बहनोई मिले थे। कुछ देर वहाँ बैठे। पर उनके मिलनेकी ऐसी धुन उन्हें सवार थी कि विश्राम करनेके लिये भी अवकाश नहीं था। कुञ्जों और झाड़ियोंमें चारों ओर उन्हें ढूँढ़ते फिरे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पूर्वपरिचित बाबाजी श्रीत्रिलोचन स्वामीकी ओर निकल गये। महात्माजीने इन्हें पहचाना और प्रेमपूर्वक स्वागत किया। विश्राम कराया। इनकी विह्वलता शान्त करनेके लिये उन्होंने अनेक

भगवद्रहस्यकी बातें कहीं, पर उससे वह और भी तीव्र हो गयी। वियोगमें प्रियके चर्चाचारका यही परिणाम होता है।

धीरे-धीरे स्वामीजीने अपने अपूर्व सत्सङ्गके प्रभावसे उन्हें शान्त और सावधान किया। फिर कुछ भोजन कराया।

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रयागदत्तजी श्रीत्रिलोचन स्वामीजीके चरणोंमें लोट गये। स्वामीजीने उन्हें वात्सल्यपूर्वक उठाकर बैठाया। महात्माजीमें उनकी श्रद्धा आकर्षित हो चुकी थी——जो प्रिय पथका सहायक होता है वह स्वभावतः श्रद्धेय तथा प्रेय हो जाता है। स्वामीजीसे उन्होंने वैराग्यदीक्षाके लिये प्रार्थना की। सद्गुरुने उमड़ती हुई श्रद्धाके उसी मुहूर्तको उपयुक्त समझा और दीक्षा दे दी। लँगोटी-अँचला प्रदान किया। प्रयागदत्तजी अब प्रयागदास-जी हो गये। राजकुमार राजवेषमें राजसिंहासनपर बैठ गया। हीरा खरादा जाकर स्वर्णाभूषणमें जटित हो गया। सिद्ध गुरु और सिद्ध शिष्य। मन्त्रराजकी कलाओंसे हृदयकमलकी पंखड़ियाँ खेलने लगीं। रहस्य खिल गया। चक्र सञ्चालित हो गये, ज्योति जगमगा उठी—जैसे शक्तिकेन्द्र (Power House)से यकायक बिजलीकी सब बत्तियाँ जल उठती हैं।

कुछ रात गये प्रयागदासजीकी दशा कुछ ऐसी चढ़ी कि वे सोते ही उठ पड़े और वन-बीहड़ोंमें जहाँ-तहाँ घूमने लगे। फिर तो यही रंग-ढंग रहा। जिधर निकल गये उधर ही निकल गये। खड़े हैं तो खड़े ही हैं, चल रहे हैं तो चल ही रहे हैं——न जाने कहाँ जा रहे हैं! न जाने क्या-क्या देखते हैं! न जाने किससे

क्या कहते हैं ! दिन-दिन और रात-रात इसी दशामें बीत रही हैं। न खानेकी सुध, न पीनेकी चिन्ता, न सोनेकी परवा। अखण्ड योगनिद्रा और दिव्य स्वप्न। जाग्रत्‌की भूमिका और तुरीयके दृश्य। देह अपने रास्ते और देही अपने। किसीने खिला दिया तो खा लिया और पिला दिया तो (पानी) पी लिया। कोई-कोई प्रेमी उन्हें अपने हाथसे भी खिला दिया करते थे और इसमें वे बड़े सुखका अनुभव करते थे। परमहंस प्रयागदासजी भी बच्चोंकी तरह चुपचाप खा-पी लिया करते। लड़के उन्हें छेड़ा भी करते और न जाने किसने सिखला दिया था कि सब उन्हें 'मामा-मामा' कहने लग गये। केश बिखरे हैं, शरीरपर धूल पड़ी है और आँखें चढ़ी हुई हैं। लक्ष्मीजीके बन्धु होनेसे आकाशमें चन्द्रमा ही लड़कोंके मामा थे; अब भूनन्दिनीके भ्राता होनेसे ये दूसरे मामा भूतलपर भी हो गये। उनके प्रेमोन्मादके लक्ष्यसे यदि हम उन्हें भारतीय मजनू कहें तो कोई अनौचित्य न होगा। भाई मजनू यदि लैलाके आशिक थे तो प्रयागदासजी अवध-छैलाके। दशा एक थी, दिशा भिन्न। एकके प्रेमका आलम्बन प्राकृत था, तो दूसरेका दिव्य। दोनोंकी तन्मयता और एकाग्रता इतनी बढ़-चढ़ गयी थी कि देह और बुद्धि तथा अहङ्कारको भी पार करके वृत्ति केवल अपने ध्येय और प्रेममें ही स्थित थी। जैसे सर्वदेव-नमस्कार श्रीहरिके प्रति जाता है, वैसे ही सबका सत्य प्रेम भी परतः रूपसे भगवान्‌हीको पहुँचता है। हृदयदेशवासी वह परम प्रियतम ही प्रेमदेव है। किसीके प्रति भी किया हुआ सत्य एवं शुद्ध प्रेमको वही ग्रहण करता है और तत्तद्भावनानुसार फल देता है।

प्रेमका कुछ तत्त्व ही ऐसा दिव्य है कि वह जिस हृदयमें विकसित होगा, उसे दिव्य ही बना देगा और दिव्य नायक पुरुषोत्तमकी ओर भी कभी-न-कभी खींच ही ले जायगा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। प्रेमी हृदयको भगवान् स्वयं खींच लेते हैं, चाहे वह कहीं हो। वे उसके बड़े गाँहक हैं। ऐसे रत्नोंका वे बड़े चावसे संग्रह करते हैं। क्रीडाशील राजकुमार ही ठहरे! अस्तु, परमहंस प्रयागदासजी-जैसे प्रेम-पागल लोकके कौतूहलके विषय बनते ही हैं और लड़के भी मनचले तथा कौतुकप्रिय होते ही हैं। अतः जब कभी वे आबादीकी ओर निकलते थे, तब बालक वृन्द 'मामा-मामा' कहते पीछे पड़ जाते थे। परमहंस मामा तो पूरे परमहंस ही थे, मत्त गजेन्द्रकी तरह झूमते हुए घूमते रहते थे।

क्यों उसे कोई छेड़ता है, उसका वह दीवाना है।
ढूँढ़ता फिरता उसे, अन्दाज[1] सब शैदाना[2] है॥
है परीशाँ जाँफ़िशाँ[3] आवारा-सा नाकारा-सा,
बेताब-सा बेख्वाब-सा बेआब-सा बेदाना[4] है।
इश्क़का मारा हुआ वह हो गया सौदाई है,
रोता कभी, गाता कभी है और कभी खन्दाना[5] है।
है खुदी[6] अपनी मिटा दी, हस्ती[7] अपनी दी है खो,
उस जमाले-बेमिसाले-शमा[8][9]का परवाना[10] है।
जाँनिसारी[11] उसकी, उसकी दिल-फ़िगारी[12] देख लो,
हो रहे हैं चश्म[13] चश्मये-अश्क[14] दिल दर्दाना है॥

१—ढंग। २—आसक्त प्रेमियोंका-सा। ३—विह्वलप्राण। ४—उन्मत्त, पागल। ५—हँसता-सा। ६—अहंकार। ७—अस्तित्व। ८—अनुपमेय सौन्दर्यशील। ९—दीपक। १०—पतङ्ग। ११—प्राणोत्सर्ग। १२—हृदय-विदीर्णता। १३—नेत्र। १४—अश्रुस्रोत।

हो रहा है मह्व[1] कैसा वह तसव्वुरे-यारमें[2],
क्या खबर कब शाम होती, कब सहर[3] नूरानी[4] है।
प्यारेका प्यारा, सितारा आँखोंका उसकी वह है,
मत कोई उसको कहे कुछ, अपना वह एगानां[5] ॥
कहनेकी आदत-सी है कुछ, गरचे कह आता नहीं,
तर्ज़-खयाले 'बिन्दु' भी कुछ कुदरती[6] शोरानां[7] है॥

उनकी नशीली-रसीली आँखोंमें एक विलक्षण चमत्कार था। वह असलियतका लक्षण था। सब कुछ कोई कर ले, परन्तु वे आँखें कहाँसे लायेगा? किसी कविने कहा है—

सौवर्णानि सरोजानि निर्मातुं सन्ति शिल्पिनः।
तत्र सौरभनिर्माणे चतुरश्चतुराननः॥

चाहे कोई शिल्पी सोनेका कमल बना ले, परन्तु उसमें सौरभ वह कहाँसे लायेगा? उसकी सम्पादन-क्रियामें तो विधाता ही कुशल है। श्रीमन्मानसकार महाराज कहते हैं—

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥

उनकी आँखें वैसी ही थीं। बिना सिद्ध-सद्गुरु-कृपाके ये कहाँ प्राप्त हो सकती हैं? इस सृष्टिके अन्तरमें, जो कोई अद्भुत रचना है, जिसमें उस क्रीडाशील नित्य नवल नायककी चित्र-विचित्र

१-तन्मय, सुध-विभोर। २-प्रिय (सखा) के ध्यानमें। ३-प्रभात। ४-ज्योतिर्मय। ५-आत्मीय, सगा। ६-नैसर्गिक। ७-कविजनोचित।

दिव्य लीलाएँ हुआ करती हैं, जिनके प्रभावसे इस जगत्में हमें रमणीयताका आभास होता है,* प्रयागदासजीकी आँखें उन्हें देखती रहती थीं। इसलिये कहते हैं कि उनकी आँखें अनोखी थीं, किसी अपार्थिव रेडियमकी बनी हुई थीं। वैसी आँखें कहाँ होती हैं—

दिलवाले हैं हर चन्द जिगरवाले हैं।
यह सच है, निगाहोंमें असरवाले हैं॥
जो देखनेकी चीज़ थी, देखी न गई।
यों कहनेको हमलोग नज़रवाले हैं॥

परमहंस प्रयागदासजी सूक्ष्मरूपसे उसी निराली दुनियाँमें विचरते रहते थे और स्थूलरूपसे स्थूल जगत्में।

रमते रहते हैं सदा देखते लीला उसकी।
कल कहीं, आज कहीं, प्रात कहीं, रात कहीं॥

जहाँ-तहाँ उन्हें लीला-विहारीकी अनेक लीलाएँ दिखायी दिया करती थीं। कहीं कोई दृश्य खिंचा हुआ है, कहीं कोई।

---

* रमन बसंत रमनीयता प्रिया समेत,
केलि कल कलनि को कियो सुप्रसार है।
चेतन आनन्द बन रस ही रसाल जहँ,
भावन सुमन बिकसितहू उदार है॥
धनुधर धीर रघुबीर 'बिंदु' मनसिज,
सीय रति जामें नित करत बिहार है।
जाकी छाया माया माहिं भाँति भाँति प्रतिभाति,
रमति रमावतिहुँ होय रागाकार है॥

कभी-कभी किसी चरितके लक्ष्यसे वे कुछ बक भी दिया करते थे। वह वाणी उनकी लोग दुहराया करते। एक बार उन्हें कहीं वन-यात्राकी लीला दृष्टिगोचर हुई। फिर तो वे अपने बहनोईजीसे नाराज हो गये और यह बकते फिरे—'देखो, अपने आप गया और मेरी सुकुमारी बहिनको भी वन-बीहड़में लेता गया!'

अब वे पैसे बटोरने लगे। यदि कोई पैसा देता, तो अब वे ले लेते और रखते जाते। कुछ दिनोंमें जब काफी पैसे जमा हो गये, तब उन्होंने उनसे तीन जोड़े जूते बनवाये—जितने बढ़िया वे बनवा सकते थे। और तीन सुन्दर सुकोमल तोशक और इतने ही पलंग। तीनों पलंग ऐसे, एकसे छोटा एक बनवाया कि एकके पेटमें एक अँट सके। एकके ऊपर एक करके क्रमशः तीनों पलंग रख लिये। ऊपरवाले पलंगपर तीनों तोशक बिछाये और तीनों जोड़े जूते रक्खे। उन्हें सिरपर रखकर वे ले चले। मस्तोंकी तो लीला ही निराली होती है, क्रीडाशीलके प्रेमी ही तो ठहरे! उनसे घटकर क्यों हों! अस्तु, मामाजी पहुँचे जाकर चित्रकूट। जहाँ-जहाँ रास्तेमें कुशा-कण्टक मिले, वहाँ-वहाँ वे बहनोईको कोसते गये। स्फटिकशिलाके परम रम्य प्रदेशमें वे जाकर ठहरे। तीनों पर्यङ्क सुसज्जित कर दिये। फूल भी तोड़-तोड़कर बिछा दिये। तीनों पर्यङ्कोंके तले तीनों जोड़े जूते भी रख दिये। कुछ देर इधर-उधर देखते रहे। फिर झाड़ियोंमें घुस-घुसकर खोजने लगे। कहीं भी कुछ आहट मिलती, कुछ खड़खड़ाहट होती, तो उधर ही वे उत्सुकतासे देखने लग जाते। आँखोंमें अश्रु और उभरे हुए रोम-कूपोंमें स्वेद-बिन्दु भरे हुए हैं। विश्रामकी सुध नहीं,

रानकी बाट शोध रहे हैं । जब इधर-उधर कहीं पता नहीं चला, तब यह बकते हुए मन्दाकिनीकी ओर लौटने लगे—'देखो, छिप गया न, जान गया कि प्रयागदास आ गया । अच्छा, छिपो·······।' यहाँ आकर देखा कि तीनों पर्यङ्कोंपर तापस-वेषमें त्रिमूर्ति श्रीराम-लक्ष्मण और श्रीजनकनन्दिनी विराजमान हैं । फिर तो आनन्दका समुद्र ही उमड़ पड़ा । विह्वलतापूर्वक बोल उठे—तुम लोग कहाँ थे, कब आये ? मैं तो तुम्हें खोजता फिरा ।' फिर दौड़कर सबके चरणोंमें जूते पहनाये । रामजीसे बोले—'अजी, इस जंगलमें तुम क्यों चले आये ? और मेरी सुकुमारी बहिनको भी लेते आये ! इस वन-बीहड़में तुमलोग कैसे रहते हो ?'

माताने कहा—'भैया ! मैं स्वयं चली आयी हूँ, ये तो नहीं लाते थे ।'

प्रयागदासजी बोले—'अच्छा, तो हम भी तुम्हारे साथ-साथ रहेंगे और पलंग ले चला करेंगे ।'

भक्तभावन भगवान्‌ने कहा—'भाई ! हमारी वन-यात्राका ऐसा नियम है कि हम तीन ही साथ रहते हैं । चौथे किसीको साथ नहीं रखते । हम पलंगपर भी नहीं बैठते । यह तो तुम्हारी रुचि रखनेके लिये अभी बैठ गये हैं । अब तुम इन्हें ले जाओ और अपनी सेवामें रक्खो । इससे हमें अपने उपभोगसे अधिक सन्तोष होगा ।'

माता बोली—'भैया ! तुम तनिक भी चिन्ता न करो । हम बड़े सुखसे वनमें रहते हैं । सब वनवासी हमारी सेवा करते रहते

हैं। कोई कष्ट नहीं होने पाता ! मुझे तो वन बहुत सुहावन लगता है। हमलोग फिर मिलेंगे।'

क्या करते ! फिर उसी तरह सिरपर वे ही खाट और उसके सब ठाट रक्खे चले। एक दिन बेचारे विश्राम भी नहीं करने पाये, उलटे पाँव लौटना पड़ा। लक्ष्मणजी ऐसा सुन्दर अवसर भला क्यों चूकने लगे। उन्होंने साले साहबसे कहा—'प्रयागदासजी ! हम भी बैठ लें ! हमें भी ले चलोगे ?' 'प्रयागदासजी बड़े प्रसन्न हुए। बोल उठे—हाँ-हाँ, चलो सब लोग चलो।' सरकारने कहा—'प्रयागदासजी ! तुम जाओ। ये ऐसे ही कहते हैं।' बेचारे रह गये। बड़बड़ाते हुए चले। अपना रिश्ता उलटकर गाली देते हुए बकने लगे—'देखो, चलना-बलना कुछ नहीं, मुझसे ठट्ठा करता है। किसीने कुछ नहीं किया। ये सब आप ही वनमें आये हैं, सोनेका महल काटता है, वन बीहड़ अच्छा लगता है। बहिन तो भोली-भाली है, साथ-साथ चली आयी। जो वह कहता है, वही करती है। जंगलमें हरे-भरे पेड़-पल्लव और पंछी-हिरन देखती है, बस जानती है, वन बड़ा सुहावन। जब देखेगी बाघ तब न जानेगी ! देखो न काँटों-कुशोंमें उसे लिये फिरता है। बड़े नेमी बने हैं, पलंगपर नहीं बैठेंगे ! मुझे भी साथ नहीं लिया। जान गया कि इसके साथ रहनेसे इसकी बहिन सचेत हो जायगी। अयोध्या लौटनेको कहेगी। है बड़ा चतुर·······वह छोटा भी बड़ा खोटा है, कहकर नहीं चला।' इत्यादि बकते-झकते प्रयागदासजी जाने लगे। कौतुकप्रिय कृपालु भगवान् प्रिया-अनुज समेत मुसकराते रहे !

मन्दाकिनी-स्नान करके जैसे प्रयागदासजी अपना बोझ उठाकर चले, वैसे ही वे श्रीअयोध्याजी पहुँच गये। उन्हें उस समय तो यही मालूम हुआ कि वे पैदल चलकर ही आये हैं, पर पीछे जब (अनुभवसे) जान गये, तब कहने लगे—'देखो, रहने भी नहीं दिया और उठाकर फेंक दिया।' कई दिनोंतक यही बकते रहे। फिर दूसरा दृश्य खींचा और उसकी भावनामें विभोर हो गये। दिन-रात उनका यही हाल था।

श्रीअयोध्याजीमें चित्रकूटजीसे आकर एक नीमके पेड़तले उन्होंने अपना आसन जमाया। जैसा भगवान्‌ने कहा था, उन्होंने ठीक वैसा ही किया। खाट बिछायी, उसपर तोशक, उसपर आपरूप आप। अपनी एक वाणीमें उन्होंने इसका वर्णन भी किया है—

नीमके नीचे खाट बिछी है, खाटके नीचे करवा।
प्रागदास अलमस्ता सोवे, राम-ललाको सरवा॥

वह प्रसिद्ध पद्य भी इन्हींका है जिसका अन्तिम चरण यह है—

प्रागदास प्रहलदवा कारन रघवा है गयो बघवा।

इसी तरहकी उनकी मस्तानी अटपटी वाणियाँ होती थीं। प्राचीन अयोध्यावासी सज्जन कभी-कभी कहा करते थे और उनके विचित्र चारु चरित्रोंकी चर्चा किया करते थे।

परमहंस मामा प्रयागदासजीको हुए चार-पाँच पीढ़ियाँ हुई हैं। लगभग डेढ़ या पौने दो सौ वर्ष हुए होंगे।

भक्त शङ्कर पण्डित

गण्डकीके पवित्र तटपर एक गाँवमें भारद्वाजगोत्रीय भक्त शङ्कर पण्डितका घर था। घरमें श्रीशालग्रामजीकी पूजा थी। बड़े तड़के उठकर भक्त शङ्करजी स्नान-सन्ध्यासे निवृत्त हो ठाकुरजीकी पूजामें बैठते। विधिवत् पूजा करके भगवान्का ध्यान करते हुए एक पहरतक एकासनसे बैठे हुए षडक्षर (ॐ रामाय नमः) मन्त्रका जाप करते। फिर तर्पण करते और बलिवैश्व करके घरसे बाहर निकलते। गाँवके बाहर एक पुराने पीपलके पेड़के नीचे शिवालय था। शङ्करजी सीधे वहाँ जाकर शिवजीका पूजन करते। शङ्करजी अनन्य रामभक्त थे परन्तु शिव और राममें वे भेद नहीं मानते थे, बल्कि शिवपूजाके बिना उनकी रामपूजा अपूर्ण ही रह जाती थी। फिर घर लौटकर भोजन करते और ठीक समयपर पाठशाला पहुँच जाते।

गाँवमें संस्कृतकी वही एक पाठशाला थी। गाँवके ठाकुर जगपाल बड़े धार्मिक थे, उन्होंने ही इस पाठशालाकी स्थापना की थी। दस विद्यार्थियोंके भोजनका प्रबन्ध था। पंद्रह दिनका सीधा प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमाको ठाकुरके घरसे आ जाता। जगपालजीके मरनेके बाद उनके लड़के कुशलपाल गाँवके ठाकुर हुए। ये स्वभावसे अश्रद्धालु थे। विलासी भी थे। परन्तु पिताकी स्थापित की हुई पाठशालाको उठानेकी इनकी हिम्मत नहीं होती थी। छोटे भाइयोंका, गाँवके लोगोंका और खास करके बूढ़ी माताका डर

था । जगपालजीके जमानेमें शङ्कर शर्माका जो आदर था, वह तो अब नहीं रहा, परन्तु उनके काममें कोई दखल भी नहीं देता था। सात रुपये मासिक और रोज एक सीधा उन्हें मिल जाता था। सदाके नियमानुसार शामको सन्ध्या करनेके समयसे एक घंटा पहले शङ्करजी पाठशालासे चल देते । और गाँवके बाहर तालाबपर जाकर शौच-स्नान-संध्या और शिवपूजन करते। रात पड़े घर लौटते। उनके सारे काम घड़ीके काँटेकी तरह नियमित होते ।

भक्त शङ्करजी बड़े ही विश्वासी, सदाचारी, सात्त्विक प्रकृतिके सन्तोषी ब्राह्मण थे। वे झूठ बोलना और दम्भ करना नहीं जानते थे। खुशामद करनेकी कलुषित कलासे भी सर्वथा अनभिज्ञ थे। सरल और स्पष्टभाषी थे। नियमित कार्य और भगवान्‌का भजन यही उनका दिनभरका काम था। पत्नी रमाबाई भी बड़ी साध्वी थी। एक पुत्र था जो गाँवसे दूर एक शहरमें पण्डिताईका काम करता था, वह भी बड़ा साधुस्वभाव था ।

माता जीवित रही तबतक तो कुछ सङ्कोच था। उसके मरने-पर कुशलपालने स्वतन्त्र होकर विलासितामें अपने हिस्सेका सब धन फूँक डाला। अब उसकी गीध-दृष्टि भाइयोंके धनपर पड़ी। वह तरह-तरहके उपाय सोचने लगा । कुशलपालके तीनों छोटे भाई शङ्कर पण्डितपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। शङ्कर पण्डित बिना काम कभी किसीके घर नहीं जाते थे, परन्तु पिताके द्वारा विशेष-रूपसे आदर पाये हुए शङ्करपर उन लोगोंको बड़ा विश्वास था। इसका एक कारण यह भी था कि जगपाल मरते समय कह गये थे

कि शङ्कर पण्डित-जैसे महात्मा अपने गाँवमें और कोई नहीं हैं। इनकी भक्ति करना और इन्हें मुझसे बढ़कर समझना। कुशलपाल-को छोड़कर शेष तीनों भाई पिताके इन वचनोंको भूले नहीं थे।

कुशलपालने एक जाल सोचा। उसने पिताके नामसे एक झूठा दस्तावेज बनाया और बड़ी खूबीसे उसपर जगपालके हस्ताक्षर भी बना लिये। पिताके हस्ताक्षरोंकी उसने ऐसी निपुणतासे नकल की कि देखनेवालोंमें किसीको भी यह सन्देह नहीं हो सकता था कि यह हस्ताक्षर जगपालका नहीं है। उस दस्तावेजमें पंद्रह लाखके सोनेमें तीन हिस्से कुशलपालको दिये गये थे और एक हिस्सेमें छोटे तीनों लड़कोंके लिये तीन भाग करनेकी बात थी। जगपालको सूर्यकी उपासना करनेसे एक नींवमें पंद्रह लाखका सोना मिला था। उसमेंसे दस लाख रुपयेसे सूर्यभगवान्‌का एक सुन्दर मन्दिर बनानेका उनका विचार था और पाँच लाख रुपये अपने घरके काममें लेनेका। परन्तु इस मनोरथके पूरा होनेके पूर्व ही उनका देहान्त हो गया। पंद्रह लाखका सोना यों ही पड़ा रह गया। इन बातोंका शङ्कर पण्डितको पूरा पता था। चारों लड़के भी इसको जानते थे और कुशलपालको छोड़कर जगपालके शेष तीनों लड़के चाहते भी थे कि मन्दिर जल्दी बन जाय, परन्तु कुशलपाल टालता जाता था। एक दिन जब भाइयोंने बहुत जोर दिया तब कुशलपालने कहा, 'भाई! सच्ची बात तो यह है कि पिताजीका मरते समय विचार बदल गया था। उन्होंने मन्दिर बनवानेकी इच्छा छोड़कर सारा सोना मुझे देना चाहा था, परन्तु जब मैंने नहीं लिया और कहा कि या तो मन्दिर ही बने या मेरे

भाइयोंको बराबर हिस्सा मिले—तब उन्होंने एक दस्तावेज मुझको लिख दिया था, वह मेरे पास है !' बड़े भाईकी इस बातको सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भाईके स्वभावको जानते थे, इसलिये उन्हें पूरा विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने दस्तावेज देखना चाहा। उसने लाकर दिखला दिया। तीनों भाइयोंने आश्चर्यचकित नेत्रोंसे उसे पढ़ा और पिताजीके हस्ताक्षर देखकर कहा कि पिताजी जो कुछ कर गये हैं उसमें हमलोगोंको कुछ भी कहना नहीं है। उनके हस्ताक्षर भी हम पहचानते हैं; परन्तु हमसे भी अधिक उनके पास रहनेवाले और उनके हस्ताक्षरोंको पहचाननेवाले हैं शङ्कर पण्डित। वे कह देंगे कि ये हस्ताक्षर पिताजीके हैं तो हम इस बातको मान लेंगे।

भगवान्‌की इच्छा कुछ और ही थी। कुशलपालके मुँहसे निकल गया 'शङ्कर पण्डितके सामने ही तो दस्तावेजपर पिताजीने हस्ताक्षर किये थे, वे कहेंगे क्यों नहीं ?' 'हाँ, हाँ, तब फिर बात ही क्या है, उसी समय दस्तावेजके अनुसार आप अपने हिस्सेका सोना ले लीजियेगा।'—तीनों भाइयोंने कहा।

कुशलपालके मुँहसे बात निकल तो गयी, परन्तु अब उसे बड़ी चिन्ता लगी। उसने सोचा, ब्राह्मण बड़ा जिद्दी और निर्लोभी है। उसने न कहा तो मेरी बात भी जायगी और आगे बढ़नेपर सोना भी शायद मुझे न मिले।' चोरके चित्तमें तो डर रहा ही करता है। कुशलपाल एक बार काँप गया। फिर विचार किया, है कौन-सी बात ! सोनेकी मारसे देवताओंके दिमाग भी दुरुस्त हो जाते हैं, फिर इस मामूली ब्राह्मणकी तो बात ही क्या है। 'पूरी

जाती देखिके बुध आधी ही लेय'—जहाँ पूरी रोटी जाती हो, वहाँ बुद्धिमान् आधी ही ले लेते हैं। ब्राह्मणके सामने सोनेका ढेर लगा दूँगा फिर देखूँगा, कैसे वह 'नहीं' कहता है। इसपर भी नहीं मानेगा, तो मेरे शरीरका बल तो कहीं चला नहीं गया है। बच्चूको ऐसा मोहनभोग खिलाऊँगा कि वह तो क्या उसके पुरखे मेरे मनकी करने लगेंगे। इस कुविचारसे कुशलपालको एक बार साहस हो आया। उसने कहा, 'अच्छी बात है, कल पण्डितजीको बुलाकर पूछ लेंगे।'

कुशलपाल घर लौट आया पर उसे चैन कहाँ ? वह कुछ खा-पीकर शङ्कर पण्डितके घर गया और बड़ी नम्रतासे दण्डवत् करके उनके चरणोंमें बैठकर कहने लगा—'पण्डितजी ! आज एक कामसे आपको कष्ट देने आया हूँ। आप तो मेरे लिये पिताजीके तुल्य हैं। आपको कष्ट न देता, परन्तु काम ऐसा ही था, इसीलिये निवेदन करनेको आना पड़ा। आपको मालूम होगा, पिताजीको पंद्रह लाखका सोना मिला था'—

'हाँ, हाँ, मालूम क्यों नहीं है, उसमेंसे दस लाखसे तो वे मन्दिर बनानेवाले थे। उनका स्वर्गवास हो गया तो क्या है, आपलोग हैं हो, मन्दिर बनवा दीजिये ! मैं अच्छी साइत देख दूँगा।'—शङ्कर पण्डितने बीचमें ही बात काटकर कहा।

कुशलपाल बोला—'मन्दिरकी बात तो सही है, पहले ऐसी ही बात थी; परन्तु पीछे पिताजीका विचार पलट गया था। मेरे मने करते-करते उन्होंने यह दस्तावेज लिख दिया था, इसे आप पढ़िये।' यों कहकर कुशलपालने दस्तावेज पण्डितजीके सामने डाल दिया।

पण्डितजीने तिरछी नजरसे कुशलपालके चेहरेकी ओर देखकर दस्तावेज उठा लिया और बड़े गौरसे पढ़कर बोले—'कुशलपालजी ! हस्ताक्षर तो उनके-से ही हैं; परन्तु निश्चय ही यह दस्तावेज जाली है । किसी धूर्तने उनके हस्ताक्षर बना लिये हैं ।'

'शिव ! शिव ! पण्डितजी ! आप यह क्या कह गये ! वह धूर्त तो फिर मैं ही हुआ । क्योंकि दस्तावेज लिखा हुआ है मेरे हाथका और है भी मेरे ही पास तथा सौभाग्य या दुर्भाग्यवश इसमें धनका अधिक हिस्सा भी मुझको ही दिया गया है ।'

'आप ही होंगे ! मुझे तो कुछ पता नहीं । अन्तर्यामी सब जानते हैं ।'

'तब तो वह आप ही अन्तर्यामी हो गये । मैंने समझा था पण्डितजी ठीकसे बातें करेंगे, सचाईका आदर करेंगे, पर आप तो मुझको ही जालसाज बताने लगे ।'

'मैंने तो आपको जालसाज नहीं कहा, परन्तु आपका पाप अपने-आप ही आपके मुँहसे बोल रहा है । ठाकुर साहेब ! परमात्मा-का डर रखिये । धन साथ नहीं जायगा । मनुष्य मोहवश धनमें सुखकी कल्पना कर उसके लिये अन्याय और असत्यका आश्रय लेता है, अन्तमें धन यहीं-का-यहीं रह जाता है । जैसे आपके पिता सब यहीं छोड़ गये, वैसे ही आप भी सब छोड़कर मर जायँगे । एक कौड़ी भी आपके साथ नहीं जायगी । जीवनभर जलेंगे और मरनेपर अनन्त नरकोंकी आगमें जलना पड़ेगा । फिर क्यों थोड़े जीनेके लिये इतना बड़ा पाप पल्ले बाँधते हैं ?'

'पण्डितजी! यह तो आप ठीक ही कहते हैं, पिताजी मर गये, मुझको भी मरना है। इस बातको मैं भी समझता हूँ। पर आप मुझको झूठा समझते हैं, यह आपकी भूल है। सचमुच ही पिताजी दस्तावेज करके मुझको तीन हिस्सेका सोना दे गये हैं। आप नाराज न हों तो मेरी एक सुनिये। आप यदि एक बातमें मेरी सहायता करें तो मैं भी आपकी सेवासे नहीं चूकूँगा। मैं ऐसा कृतघ्न नहीं हूँ जो आपके गुणोंको भूल जाऊँ। सोनेका आधा हिस्सा आपका होगा। फिर आप उससे भगवान्‌की यथेष्ट सेवा कीजिये और अपने बाल-बच्चोंको सदाके लिये सुखी बना दीजिये।'

'ठाकुर साहेब! अब आप सीमासे बाहर जा रहे हैं। मुझे सोनेका लोभ दिखाकर अपने पापमें शामिल करना चाहते हैं। (कुछ उत्तेजित होकर) क्या तुम मुझसे यह कहलाना चाहते हो कि तुम्हारा दस्तावेज सच्चा है? यह हर्गिज नहीं होगा। मुझे धन प्यारा नहीं है, धर्म प्यारा है। मेरे ठाकुरजी चोरीके धनकी सेवा स्वीकार नहीं करते। बाल-बच्चोंको सुख उनकी गाढ़ी कमाईके पैसेसे होगा, पापके सोनेसे नहीं। इससे तो बुद्धि बिगड़ेगी जो न मालूम कितने भयानक दुःखोंका कारण बनेगी! मुझे यह सोना नहीं चाहिये। अब फिर ऐसी बात मुँहसे मत निकालना, नहीं तो परिणाम बहुत बुरा होगा।'

'जमाना ही बुरा है, होम करते हाथ जलता है। भिखारी ब्राह्मणका अभिमान तो देखो, सोनेसे मानो इनको बड़ी घृणा है! मुझे परिणामका डर दिखाते हैं!'—कुशलपालने झल्लाकर कहा।

'कुशलपाल! मैं भिखारी हूँ, पर तुम्हारी तरह बेईमान नहीं हूँ। मेरे घरमें सोना नहीं है, पर मैंने सोनेके लिये ईमान कभी नहीं

खोया । मैं फिर भी कहता हूँ तुम कुछ तो भगवान्‌से डरो । भैया ! बहुत हो गया । अब अपने घर जाओ और इस पापमय विचारको छोड़ दो !'

'शङ्कर पण्डित ! अब मैं समझ गया, सीधी अँगुलीसे घी नहीं निकलेगा । पिताजीने तुम्हें बहुत सिर चढ़ा दिया था, उसीका यह नतीजा है । खैर, मैं तो जाता हूँ; परन्तु याद रखना, मेरा नाम कुशलपाल है ।'

'भाई ! इतना गर्व क्यों करते हो ? मेरा तुम क्या बिगाड़ोगे ? तुम्हारा क्रोध तुम्हारे ही लिये घातक होगा । भगवानके राज्यमें अन्याय नहीं हो सकता, सब अपना-अपना कर्मफल भोगते हैं । मैं यदि निरपराध हूँ तो तुम मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकते । मेरे 'कोसलपाल' भगवान् श्रीरघुनाथजीके सामने तुम-जैसे क्षुद्र कुशलपाल किस गिनतीमें हैं ! मेरा विश्वास है वे नित्य मेरी सहायता करते हैं, सदा मेरे साथ रहते हैं । वे मुझे अवश्य बचायेंगे । यदि मेरे किसी पूर्वकर्मका भोग तुम्हारे हाथ भोगा जायगा तो उसमें भी मेरा मङ्गल ही होगा !'

'अच्छा देखा जायगा ! मैं जाता हूँ ।'

'जाओ, भाई ! ईश्वर तुम्हारा भला करे, तुम्हें सुबुद्धि दे ।'

'मैं तुम्हारे ईश्वरसे भलाई और सुबुद्धिकी आशा नहीं रखता अपनी भलाई मैं आप ही अपनी बुद्धिसे कर सकता हूँ । तुम्हारे-जैसोंके आशीर्वादकी मुझे आवश्यकता नहीं है । तुम अपने ही लिये अपने भगवान्‌से प्रार्थना करो ।' इतना कहकर निराश होकर कुशलपाल वहाँसे चला गया । उसके मनमें शङ्कर पण्डितसे बदला लेनेकी आग जल उठी । पापसे पाप पैदा होता है । उसने घर जाते

ही एक तेज छूरा जेबमें डाल लिया और शङ्करको मारनेकी घातमें फिरने लगा । प्रतिहिंसाके पापने उसकी बुद्धिका नाश करके उसको पागल-सा बना दिया ।

सन्ध्याका समय है । चारों ओर अँधेरा छाया है । कृष्णपक्षकी चतुर्थीका दिन है । सुनसान जंगलका रास्ता है । इधर-उधर सियार हुँआँ-हुँआँ कर रहे हैं । दूरसे कुत्तोंका भोंकना सुनायी देता है । शङ्कर पण्डित सदाकी तरह भगवान्‌के पवित्र नामोंका गान करते हुए निश्चिन्त मनसे शिवजीके मन्दिरसे घरको लौट रहे हैं । अचानक कुशलपालने उनका हाथ पकड़ लिया और छूरा छातीमें भोंककर वह भाग चला । शङ्कर पण्डितके हृदयसे खून बहने लगा और वे 'हा राम ! हा रघुवर !' कहते हुए बेहोश होकर गिर पड़े !

दूसरे ही क्षण उन्होंने देखा, वे किसी बड़े ही सुरम्य दिव्य बगीचेमें हैं, पास ही सुन्दर जलका विशाल सरोवर है, जिसके चारों ओर नाना प्रकारके विचित्र और सुगन्धित पुष्प खिल रहे हैं । अनेकों दिव्य पक्षी अपनी सुन्दर स्वर्गीय भाषामें गा रहे हैं । चारों ओर अनोखा प्रकाश छाया है । विशाल पीपलका एक सुहावना वृक्ष है । उसीके पास एक मनोहर सिंहासनपर भगवान् श्रीराम जनकनन्दिनी श्रीसीताजीसहित अपने दिव्य वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित विराजमान हैं । श्रीभगवान्‌की मनोहर छवि देखते ही बनती है । श्रीलक्ष्मण और भरत चँवर डुला रहे हैं । शत्रुघ्न हाथमें जलकी झारी लिये खड़े हैं । हनुमान्‌जी भगवान्‌के चरण दबा रहे हैं । सामने दोनों ओर भक्तोंकी और संतोंकी सुन्दर पंक्तियाँ हैं, सभी बड़े सुन्दर स्वरोंमें भगवान् श्रीरघुनाथजीका स्तवन कर रहे हैं । शङ्कर पण्डित इस मनोहर और

दुर्लभ दृश्यको देखकर कृतकृत्य हो गये। उनके हृदयका घाव तो कभी छूमन्तर हो गया था। वे कभी भगवान्के चरणोंकी ओर निहारते और कभी मनोहर मुखचन्द्रकी झाँकी करते। स्तवन समाप्त होनेपर शङ्कर पण्डित प्रेमविह्वल और आनन्दमग्न होकर भगवान्के चरणोंमें लोट गये। वे उस समय जिस परमानन्दके समुद्रमें निमग्न हो रहे थे, उसका वर्णन वाणीसे नहीं हो सकता। भगवान्का इशारा पाकर हनूमान्जीने उन्हें उठाया, वे उठते ही मारुतिकी छातीसे चिपट गये। उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बह रही थी, शरीर पुलकित था। आनन्द हृदयमें समा नहीं रहा था। भगवान्ने कहा, 'भक्त शङ्कर! मैं तुम्हारी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारे-जैसे दम्भ-हीन, सरलहृदय, निर्लोभी और बिना किसी दिखावेके चुपचाप मेरी निष्काम सेवा करनेवाले सच्चे विरक्त भक्त मुझे परम प्यारे हैं। जाओ, मेरा चिन्तन करते हुए अभी कुछ समयतक पृथ्वीपर रहकर जगत्का कल्याण करते रहो। शीघ्र ही तुम मेरे धाममें आकर धन्य होओगे।'

शङ्कर पण्डित भगवान्की मधुर वाणी सुनकर निहाल हो गये, परन्तु भगवान्को छोड़नेकी बात उनके मन नहीं रुची। पर प्रेम-मुग्धताके कारण वाणी बंद थी, वे कुछ भी बोल नहीं सके। हाँ, आँखोंके गरम-गरम आँसू अवश्य ही यह बतला रहे थे कि वे भगवान्के चरणोंको छोड़ना नहीं चाहते!

भगवान्ने फिर कहा, 'तुम चिन्ता न करो, मेरा आदेश मानकर जगत्का कल्याण करो।' भगवान्के इतना कहते ही वह सारा दृश्य आँखोंके सामनेसे हट गया। शङ्कर पण्डितने अपनेको उसी सुनसान जंगलमें पड़े पाया, परंतु वे अब होशमें थे और उनका

घाव बिल्कुल अच्छा हो चुका था। भगवान्‌की दयापर मुग्ध हुए शङ्कर पण्डित उठे और उस महान् दुर्लभ दृश्यका मधुर स्मरण करते हुए घरकी ओर चले। थोड़ी ही दूर चले थे कि उन्होंने कुशलपालको जमीनपर पड़े देखा, उसके मुँहसे खून बह रहा था। चाँदके उजियालेमें उसकी यह दुर्दशा देखकर शङ्कर पण्डितके मनमें बहुत दुःख हुआ। शङ्करने उसको उठाया और पासके कुएँसे जल लाकर उसका खून धोया और धीरे-धीरे उसे होश कराया। कुशलपाल शङ्कर पण्डितको देखकर एक बार तो डरा, परन्तु पीछे वह आनन्दमें भर गया। वह चरणोंमें गिर पड़ा और बोला 'पण्डित-जी! मैं बड़ा ही नीच अभागा हूँ, जीवनभर मैंने पाप किये, सब धन फूँक दिया; अन्तमें धनके अभावमें मेरी नीच मति हो गयी, मैंने झूठ दस्तावेज बनाया, लोभवश उसपर पिताजीके जाली हस्ताक्षर बनाये और फिर भाइयोंसे कहा कि पण्डितजीके सामने ही पिताजी-ने हस्ताक्षर किये थे। मेरे साधुस्वभावके तीनों भाइयोंने इसपर विश्वास करके कहा कि पण्डितजी कह देंगे तो हम आपको तीन हिस्सेका सोना दे देंगे। मैं इसी उद्देश्यसे आपके पास गया था और लोभ दिखाकर डरा-धमकाकर आपसे झूठी गवाही दिलवाना चाहता था। परन्तु आप शुद्धान्तःकरण होनेसे मेरी जालसाजी पहलेसे ही जान गये। आपने दया करके मुझको समझाया, परन्तु मैं पापबुद्धि उल्टा आपपर क्रोधित होकर चला गया। फिर तो मैंने जो नीच कर्म किया, वह आप जानते ही हैं। मैं आपको छूरा मारकर भागा। तुरंत ही मुझे ऐसा दिखायी दिया, मेरे पीछे दो बड़े भयङ्कर पुरुष आ रहे हैं; मैं डर गया। उन्होंने मुझे पकड़ लिया और कहा 'नराधम! तुझको हम अभी मार डालते और सीधे नरकोंमें पहुँचाते, परन्तु क्षमाशील शङ्कर पण्डित बड़े ही भक्त हैं, वे हृदयसे तेरा कल्याण

चाहते हैं, तू उनके आशीर्वादसे सुरक्षित है । हमलोग उनके विपरीत कुछ कर नहीं सकते, इसीलिये तुझे थोड़ा-सा ही दण्ड देकर छोड़ देते हैं । खबरदार ! अब तू द्वेष और लोभको छोड़कर पवित्र हो जा ! नहीं तो आगे बड़ी दुर्दशा होगी ।' इतना कहकर उनमेंसे एकने बड़े जोरसे मेरे सिरमें एक घूँसा जमा दिया । उस समय मुझे जो भयानक पीड़ा हुई उसे मैं ही जानता हूँ । परन्तु उन्होंने ऐसा करके मुझपर बड़ी ही कृपा की । उस मारसे मेरा मन शुद्ध हो गया । मैं अपने कियेपर पश्चात्ताप करने लगा । मुझे अपने भाइयोंसे बेईमानी करनेका सूर्यमन्दिरका धन हड़पनेकी इच्छा करनेका तो दुःख था ही; सबसे बड़ा दुःख मुझे आपको मारनेका था । मैंने समझा था कि आपके प्राण बचे नहीं हैं । मैं इसी अनुतापकी आगसे जलता-जलता उस घोर पीड़ाको सहता रहा । पिताजीके समय लड़कपनमें सुनी हुई एक कथा मुझे याद आ गयी : एक बार भगवान्‌ने अपने पार्षदोंसे कहा कि—

'जो मेरी पूजा करता है परन्तु मेरे भक्तका अपराध करता है वह मानो मेरे पैरोंको पूजता हुआ मेरे गलेपर छुरी चलाता है । ऐसे पुजारीको घोर नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है ।* इसके बाद ही

---

* इसी आशयका सूरदासजीका एक पद है—

श्रीपति दुखित भगत अपराधें ।
संतन द्वेष द्रोहिता करके आरति सहित जो मोहि अराधें ॥
सुनो सकल बैकुंठ निवासी, साँची कहौं जिन मानो खेदें ।
तिनपर कृपा करूँ मैं केहि विधि, पूजत पाँव, कंठको छेदें ॥
जन सों बैर प्रीति मोसों करि मेरो नाम निरंतर लैहें ।
सूरदास भगवंत बदत यों, मोहिं भजें पर जमपुर जैहें ॥

मेरे मुँहसे खून बहने लगा और मैं बेहोश हो गया। बेहोशीमें मैंने जो-जो भयानक दृश्य देखे, लोभी, दम्भी, दुराचारी, हिंसक और भक्तद्वेषियोंकी जैसी-जैसी भयानक दुर्दशाएँ देखीं तथा स्वयं भी जो घोर यन्त्रणाएँ सहीं, उनको याद करके अब भी मेरा कलेजा काँप रहा है। परन्तु यह सब देखकर और सहकर मैं पवित्र हो गया। मैं अब आपकी कृपासे होशमें हूँ और मेरी सारी पीड़ा मिट गयी है। आपकी कृपासे भगवान्‌का यह परम अनुग्रह मुझे प्राप्त हुआ। अभी आपको स्वस्थ देखकर तो मेरे हृदयमें आनन्द समा नहीं रहा है; बतलाइये, आपके प्राण कैसे बचे ?'

कुशलपालकी करुण कहानी सुनकर शङ्कर पण्डित आनन्दमग्न हो गये। भगवान्‌की दया देखकर उनका हृदय कृतज्ञतासे भर गया। उन्होंने सोचा, भगवान् कब किसपर किस तरह दया करते हैं, यह कोई नहीं जान सकता। इस बेचारे कुशलपालकी दुर्बुद्धिको दयामय भगवान्‌ने क्षणोंमें ही कैसे हर लिया। दुःखकी बात तो इतनी ही है कि मेरे कारण इसको इतनी पीड़ा सहनी पड़ी। यों सोचते हुए शङ्कर पण्डितने कहा—'भाई कुशलपाल! मेरे अपराधको क्षमा करना, मेरे कारण तुम्हें बड़ी साँसत सहनी पड़ी। अब तुम्हारा हृदय पवित्र हो गया, यह भगवान्‌ने तुमपर बड़ी कृपा की। मैं तो तुम्हारा बड़ा ही उपकार मानता हूँ। तुम मुझे छुरेसे नहीं मारते तो मैंने जो भगवान्‌की झाँकीका अपार आनन्द प्राप्त किया है, वह नहीं प्राप्त कर सकता। तुम ही मुझे भगवान्‌के धामका दर्शन करानेमें प्रधान कारण हो। मैं तुम्हारे इस उपकारका बदला कैसे चुकाऊँ ?' इतना कहकर शङ्कर पण्डित गद्गद होकर रोने लगे!

कुशलपाल पुनः चरणोंमें गिर पड़ा और उनकी चरण-धूलिको मस्तक-पर चढ़ाकर बोला—'भगवन् ! आप धन्य हैं, मैं ऐसे हृदयवान् पुरुषके चरणोंमें पड़ा हूँ, इसलिये मैं भी आज धन्य हो गया। पर आप मुझ पामरसे क्षमा चाहते हैं और मेरा उपकार मानते हैं, यह आपकी तो परम साधुता है, परन्तु मैं नीच इन शब्दोंको सुन रहा हूँ। यह मेरी कितनी अधमता है। पृथ्वी भी नहीं फट जाती कि मैं उसमें समा जाता। मुझपर वज्रपात क्यों नहीं हो जाता। भगवन् ! मैं महापापी नीच नारकी जीव हूँ। आप कृपाकर मुझे अपनाइये, अपना सच्चा शिष्य बनाइये।' यों कहकर कुशलपाल बड़े जोर-जोर-से पुकार-पुकारकर रोने लगा। सच्चे पश्चात्ताप, भगवत्कृपा और संतकी शुभ भावनासे उसका अन्तःकरण परम शुद्ध हो गया !

शङ्कर पण्डितने उसे उठाकर हृदयसे लगा लिया और सच्चा अधिकारी जानकर उसे भगवान् रामका षडक्षर (ॐ रामाय नमः) मन्त्र देकर कृतार्थ किया। कहना नहीं होगा कि उसी क्षणसे कुशलपालका जीवन ही पलट गया ! उसने सारा धन भाइयोंको दे दिया। अपने उससे कुछ भी सम्पर्क नहीं रक्खा। भाइयोंने पिता-जीके इच्छानुसार दस लाखके सोनेसे मन्दिर बनवा दिया और शेष पाँच लाख भी धर्मकार्यमें लगा दिये। कुशलपालका जीवन भजनमय हो गया और अन्तमें शङ्कर पण्डितसहित वह भगवान्के परमधाम साकेत लोकमें पहुँचकर कृतार्थ हो गया।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

भक्त प्रतापराय

भगवान्‌के सच्चे विश्वासी भक्त प्रेमपूर्वक निरन्तर भजन करते हैं; परन्तु भजनके बदलेमें कुछ भी चाहते नहीं। संसारके सुख-दुःखोंकी तो उन्हें परवा ही नहीं होती, स्वर्गसुखको भी वे तुच्छ समझते हैं। यहाँतक कि मोक्ष और साक्षात् भगवत्प्राप्तिका लोभ भी उन्हें भजनसे नहीं डिगा सकता। वे भजन करते हैं; क्यों करते हैं? इसका उनके पास जवाब नहीं होता; परन्तु यह निश्चित है कि भजन किये बिना उनसे क्षणभर भी रहा नहीं जाता। उनके लिये भजनका त्याग उतना ही असाध्य है, जितना जीवनके लिये प्राणों-का। वस्तुतः यह उदाहरण भी भक्तके द्वारा होनेवाले भजनकी तुलना नहीं कर सकता। यह तो समझनेके लिये एक संकेतमात्र है। जो लोग सांसारिक भोग-सुखोंकी प्राप्तिमें भजनका सुफल होना समझते हैं और इसीमें भगवत्कृपा मानते हैं, और सांसारिक विपत्तियों तथा कष्टोंमें भगवान्‌को भूल जाते हैं, कोसते हैं, उनकी अकृपा मानते हैं और कहीं-कहीं तो भगवान्‌की दया और उनके अस्तित्वतकपर सन्देह करने लगते हैं, वे वस्तुतः बड़े ही दयनीय हैं। ऐसे लोग भजनके प्रेमी भक्त नहीं हैं, ये तो लेन-देन करनेवाले व्यापारी—उनमें भी अविश्वासीमात्र हैं। हमारे भक्तराज श्रीप्रतापराय-जी उपर्युक्त प्रकारके एक महान् विश्वासी भक्त थे। युवावस्थाके कुछ कालको छोड़कर इनके जीवनका मध्यकाल सांसारिक दृष्टिसे दुःख-सागरमें ही डूबते-उतराते बीता, परन्तु ये सदा ही अपने आनन्दमें मग्न रहे। किसी भी दुःखकी ताकत नहीं हुई कि वह इनके दिलपर कुछ भी असर डाल सके।

भक्त प्रतापरायजी क्षत्रिय थे। इनके पूर्वज बहुत समयसे बंगालमें जा बसे थे। इनकी भाषा, वेश तथा चाल-चलनमें काफी बंगालीपन आ गया था; परन्तु खान-पान शुद्ध था। श्रीगोपालजीकी भक्ति तो इनकी मानो बपौती थी। चारों ओर आमिषभोजी शक्ति-उपासकोंसे घिरे रहनेपर भी इनके परिवारमें वैष्णवताका मानो अखण्ड एकछत्र साम्राज्य था। पश्चिम बंगालके हरसोला नामक गाँवमें ये रहते थे। इनके पिताका नाम भानुराय और माताका नाम कुसुमी था। दोनों बड़े ही धार्मिक और भक्त थे। इनके पास जमीन थी और उसमें काफी अनाज होता था। पशुधन भी पर्याप्त था। कुछ महाजनीका काम करते थे। उचित ब्याजपर आस-पासके गाँववालोंको रुपये दिया करते थे। अपनी स्थितिमें ये मस्त थे। घरकी आवश्यकताके अनुसार इनको किसी बातकी कमी नहीं थी। प्रतापराय इस भाग्यवान् दम्पतिके एकमात्र लाड़िले पुत्र थे। माता-पिता ही सन्तानके सबसे पहले गुरु होते हैं। बच्चोंका दुलार तो अवश्य ही करना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये, जिससे उनमें बुरी आदत पड़े और आगे चलकर उसका बुरा फल उन्हें भोगना पड़े। प्रतापरायके माता-पिता इस विषयमें बड़े सावधान थे। दो बहिनोंके बीचमें प्रताप एक ही लड़के थे। माता-पिताके हृदयके परम धन थे, परन्तु उन्होंने उनमें एक भी बुरी आदत न पड़ने दी। माता-पिताकी शिक्षाके प्रभावसे वे सबेरे उठते, भगवान्का स्मरण करते, माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम करते, नहा-धोकर तुलसीका पौधा सींचते, घरमें ठाकुरजीके दर्शन करते, कुछ जाप करते, तब सबेरेका ब्यालू करते। सबसे मीठा और विनयके

साथ बोलते, हठ नहीं करते, माता-पिताके सामने कभी नहीं बोलते। प्रताप जैसे देखनेमें सुन्दर थे वैसे ही बल्कि उससे कहीं अधिक हृदयसे और बर्तावमें सुन्दर थे। उनसे जो एक बार बात कर लेता, वही मुग्ध हो जाता। माता-पिताने प्रतापमें कष्ट सहनेकी भी आदत डाली थी। धूप-वर्षा सहना, जाड़ेमें बिना कपड़ेके रह जाना, हाथसे सब काम कर लेना, बहिनोंसे ईर्ष्या न करना, कपड़े-गहनेके लिये कभी न ललचाना, बहुत सादे और मोटे कपड़े पहननेमें आनन्द मानना, जीभके स्वाद और शरीरकी सजावटसे घृणा करना, शौकीनी बिल्कुल न जानना और किसी भी कामके करनेमें न लजाना उनके खास गुण थे। वे कोई भी चीज अकेले न खाते, पहले अपनी बहिनोंको देते, तब खाते। बहिनें भी उनसे बहुत प्यार करतीं। इस प्रकार प्रतापरायका लड़कपन माता-पिताकी देख-रेखमें बहुत ही आनन्दसे बीता।

प्रतापरायकी बड़ी बहिनका नाम लक्ष्मी था और छोटीका माधवी। लक्ष्मीका विवाह तो पहले ही कर दिया गया था। प्रतापरायका विवाह तेरह सालकी उम्रमें और माधवीका ग्यारह सालकी उम्रमें कर दिया गया। दोनोंके विवाह पाँच-सात दिनोंके अन्तरसे एक ही साथ हुए। प्रतापरायके विवाहके बाद दस सालतक भानुराय जीवित रहे। इस बीचमें घरका सब काम प्रतापराय करने लगे। प्रतापरायके एक पुत्र भी हो गया। प्रतापराय जब तेईस वर्षके हुए तब पिता भानुरायका देहान्त हो गया। पिताकी मृत्युसे यद्यपि प्रतापरायके सिरका छत्र ही टूट

गया, परन्तु उनकी विलक्षण विषयविरक्ति तथा भक्तिनिष्ठाने उनको दुखी नहीं होने दिया । उन्होंने सोचा—

संसारमें स्थिर क्या है, जो जन्मा उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है । संसारके सभी संयोग-वियोगको साथ लिये आते हैं । आत्मा अमर है, कभी मरता नहीं और अनित्य तथा क्षणभङ्गुर शरीर स्थायी रहता नहीं । फिर चिन्ता किस बातकी ? पिताजी भगवान्के भक्त थे । भगवान्का नाम-जप करते-करते पिताजीने इतनी आसानीसे शरीर छोड़ दिया मानो अङ्गसे सूखे फूलोंकी माला उतार दी हो । उन्हें कोई कष्ट हुआ ही नहीं । मरनेमें कष्ट तो उनको होता है, जिनका मन भोगोंमें फँसा होता है, जो भगवान्के दयापूर्ण विधानमें विश्वास नहीं करते तथा जो देहको ही आत्मा मानते हैं । पिताजी तो भगवान्के अत्यन्त विश्वासी भक्त थे तथा आत्मनिष्ठ थे, उन्हें मरणक्लेश क्यों होने लगा ? वे भगवान्के धाममें पधारे हैं, इससे उन्हें बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ होगा । उनके इस आनन्दसे स्वार्थवश द्वेष करके मैं क्यों अपनी नीचता प्रकट करूँ ?'

इस प्रकारके विचारोंसे प्रतापरायने पितृवियोगके महान् दुःखको सहज ही सह लिया । अब घर-परिवारका सारा भार प्रतापरायपर आ पड़ा । वे घरका सब काम करते थे, परन्तु जैसे भोगासक्त विषयी मनुष्यका चित्त निरन्तर निष्कपट भावसे विषयोंमें लगा रहता है, वैसे ही उनका चित्त सदा-सर्वदा श्रीभगवान्के स्वरूपचिन्तनमें लगा रहता था । ये चम्पाके बगीचेमें चञ्चरीककी तरह निर्लिप्त भावसे सब काम करते थे । कुछ समय बाद माता

कुसुमीका देहान्त हो गया। दिन-रात माताकी सेवामें लगे रहने-वाले प्रतापरायने मङ्गलमय भगवान्‌का विधान मानकर मातृवियोगके कष्टको भी सहर्ष सहन कर लिया। अब उनके जीवनमें नित्य नये-नये सङ्कट आने लगे। मानो भगवान् उनकी विशुद्ध भक्तिकी बड़ी कड़ी परीक्षा ले रहे हों। परन्तु जैसे सोना तपाये जानेपर और भी खरा हो जाता है, वैसे ही कष्टोंसे तप-तपकर उनका भक्तिरूपी स्वर्ण अधिकाधिक निर्मल, उज्ज्वल और महान् उच्च श्रेणीका होने लगा।

कुछ वर्षों बाद प्रतापरायके एकमात्र पुत्र दीनबन्धुरायका भी बारह वर्षकी उम्रमें देहान्त हो गया। पुत्रकी मृत्युके समय प्रताप-राय और उनकी पतिव्रता पत्नी मालतीने जिस धैर्य, भगवन्निष्ठा तथा कर्तव्यपरायणताका परिचय दिया, वह सर्वथा स्तुत्य है। दीनबन्धुको सान्निपातिक ज्वर हो गया। माता-पिताने यथासाध्य उसकी चिकित्सा करायी और भलीभाँति सेवा की।

दोनों जने पुत्रकी चारपाईके पास बैठे उसे दिन-रात भगवन्नाम और भगवान्‌की लीला-कथा सुनाते तथा उसके मनमें संसारकी असारता एवं भगवान्‌की ही एकमात्र नित्य-सत्ताका अनुभव करानेकी चेष्टा करते। दिन-रातकी हरिचर्चासे मरणासन्न बालक दीनबन्धुका चित्त जगत्‌से हट गया और वह एकमात्र श्रीभगवान्‌में लग गया। इसी अवस्थामें उसकी मृत्यु हो गयी। यही तो वास्तविक आत्मीयता और सच्ची सेवा है। इकलौता लड़का था, परन्तु भगवद्विश्वासी प्रतापराय तथा मालतीने परस्पर विचार करके यही निश्चित किया कि 'यह सब श्रीभगवान्‌की लीला है। भगवान्‌ने इसे दिया था, इसके द्वारा अपनी

सेवा करानेके लिये, जबतक उनकी इच्छा रही इसके द्वारा सेवा करनेका सौभाग्य उन्होंने हमलोगोंको दिया। अब वे हमें दूसरी सेवामें नियुक्त करना चाहते हैं। इसमें चिन्ताकी कौन-सी बात है ? संसार तो उनकी लीलास्थली है। फिर मृत्यु है भी क्या वस्तु ! यह तो जीवन-नाटकका एक नैसर्गिक पर्दा है जिसके हुए बिना नाटककी शोभा ही नहीं होती। आत्मा मरता नहीं, शरीर रहता नहीं—मिलना-बिछुड़ना, सम्बन्ध होना और टूटना यह सब इस खेलके अङ्ग हैं फिर रोना किस बातका।' इस प्रकार निश्चय करके वे दोनों प्रसन्नताके साथ भगवान्‌के भजनमें लग गये। लोग उनकी इस स्थितिको देखकर चकित रह जाते।

कुछ समय बाद उनकी छोटी बहिन माधवीके पति वल्लभराय रोगशय्यापर पड़ गये। बड़ी बहिन लक्ष्मीको यह विश्वास था कि मेरे भाई प्रतापराय बड़े ही भक्त हैं, वे यदि भगवान्‌से प्रार्थना कर देंगे तो वल्लभकी मृत्यु नहीं होगी। लक्ष्मीने भाईको इसके लिये अनुरोध किया। प्रतापराय निष्काम भक्त थे। वे जानते थे कि भगवान्‌की भक्ति करके बदलेमें कुछ चाहना भक्तिको बेचना है। जो लोग भक्तिके बदलेमें धन, पुत्र, मान, यश, जीवन आदि चाहते हैं, वे वस्तुतः भगवान्‌की तथा उनकी भक्तिकी महत्ता ही नहीं जानते। वे साध्य तो असत्यमें मानते हैं उन पुत्र-धनादि नश्वर वस्तुओंको और भगवान्‌को बनाते हैं उनकी प्राप्तिका साधन। ऐसी भक्ति वास्तवमें भगवान्‌की भक्ति नहीं है। यह तो उन विषयोंकी भक्ति है क्योंकि उनका दर्जा भगवान्‌से भी ऊँचा मान रक्खा है। वे यह भी जानते थे कि शरीर नश्वर है और यहाँके सभी सम्बन्ध आरोपित हैं।

इन आरोपित सम्बन्धवाले अपने तथा अपने आत्मीयोंके शरीरोंके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करना मूर्खतामात्र है; परंतु वे बहिनके अनुरोधको टाल न सके। उन्होंने कहा—'अच्छी बात है, मैं कल भगवान्‌से प्रार्थना करूँगा।' प्रतापरायकी इस बातसे लक्ष्मीको बहुत आश्वासन मिला।

रातका लगभग तीसरा पहर था, बहनोईके बिस्तरके पास ही प्रतापराय बैठे थे। उन्हें तन्द्रा-सी आ गयी। उन्होंने देखा—कमरा अपूर्व ज्योतिसे जगमगा उठा। भगवान्‌के दिव्य शरीरधारी चार पार्षद अत्यन्त सुन्दर विमान लेकर खड़े हैं और मुसकराते हुए कह रहे हैं—वल्लभ! तुम बड़े पुण्यशील और भगवद्भक्त हो। पूर्वजन्ममें ही तुम भगवान्‌के दिव्यधाममें पहुँच गये होते, परन्तु माधवीके साथ तुम वचनबद्ध थे, इसीसे तुम्हें एक जन्म और लेना पड़ा। माधवी भी परम साध्वी है। तुम्हारे देहत्यागके बाद यह भी सती होकर तुम्हारे ही साथ भगवान्‌के परमधाममें पहुँच जायगी। परन्तु मालूम होता है प्रतापराय इस विधानको पलटना चाहते हैं। वे तुम्हारे जीवनके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनेवाले हैं। यदि उन्होंने भगवान्‌से तुम्हारा जीवन माँगा तो भगवान् उनकी प्रार्थना सुन लेंगे और तुम्हारा दिव्यधाम-गमन रुक जायगा। हमलोग तुम्हें लेने आये हैं, परन्तु प्रतापरायकी चित्तवृत्ति देखकर रुके खड़े हैं। 'बोलो, बोलो, तुम क्या कहते हो?' वल्लभकी आत्माने कहा, 'भगवन्! मुझे अभी ले चलिये। अनन्त कालकी साध आज पूरी हो रही है, इसमें क्षणभरका भी विलम्ब क्यों हो? प्रतापरायजी बड़े भक्त हैं, वे भला भगवान्‌के मङ्गलविधानके विरुद्ध अपनी कोई इच्छा क्यों करेंगे?

आप शीघ्रता कीजिये । अब मैं पलभर भी इस देहके बन्धनमें नहीं रहना चाहता । इतनेमें ही प्रतापरायकी आँखें खुल गयीं. उन्होंने वल्लभके चेहरेकी ओर देखा । वल्लभ चेतना-हीन थे परन्तु उनके चेहरेपर तेज छिटक रहा था और ओठोंपर हँसी नाच रही थी । समीप बैठी माधवीको भी तन्द्रा आ गयी थी । वह चौंककर उठी । उसने एक बार वल्लभके मुखकी ओर देखा और प्रतापरायसे कहा, 'भैया ! मैंने एक बड़ा ही विचित्र स्वप्न देखा है । भगवानके पार्षद पतिदेवको लेने आये हैं । मुझको उन्होंने वैकुण्ठधामका परम दिव्य आनन्द दिखलाया और कहा कि तुम भी साथ चलो । परन्तु तुम्हारे भैया इसमें बाधक हो रहे हैं, उन्हें समझाओ ।' इतना कहकर वह फिर चेतनाहीन हो गयी । थोड़ी देरके बाद पुनः जगकर कहने लगी—'भैया ! मेरे स्वामी और मैं—हमलोग मरते नहीं हैं, हम तो दिव्य आनन्दधामकी यात्रा कर रहे हैं । तुम भैया ! इसमें बाधा क्यों देने लगे ? हमारे सुखमें तो तुम्हें सुख ही होना चाहिये न ।' माधवी स्वप्नका सारा हाल सुना गयी । सारा-का-सारा स्वप्न वही था जो प्रतापरायने देखा था । एक बात विशेष थी, माधवी स्वप्नमें वैकुण्ठधामकी यात्रा करके वहाँकी अपूर्व सुख-शोभा भी देख आयी थी । प्रतापराय चकित हो गये । उन्होंने मन-ही-मन कहा, 'अहा ! मैं भगवान्के विधानके विरुद्ध अपनी इच्छा प्रकट करके कितनी मूर्खता करने जा रहा था । वे मङ्गलमय निरन्तर हमारा परम मङ्गल करनेमें लगे रहते हैं । हम अदूरदर्शी मनुष्य विषयासक्तिके कारण अपना परम मङ्गल नहीं देखते और नरकके कीड़ेकी भाँति विषयरूपी नरकमें ही पड़े रहना चाहते हैं । सर्वदर्शी सर्वान्तर्यामी सबके सहज

कल्याणकामी भगवान्‌से किस कल्याणके लिये प्रार्थना की जाय ? उनसे तो कुछ भी माँगना ही वास्तवमें ठगाना है । न मालूम वे हमारा कैसा और कितना कल्याण सोचते हैं । हम यदि कुछ भी माँगते हैं तो वहाँतक तो हमारी बुद्धिकी पहुँच होती नहीं; अज्ञानी रोगीके कुपथ्य चाहनेकी भाँति भ्रमवश हम कोई ऐसी चीज चाह बैठते हैं जो भगवान्‌के सोचे हुए कल्याणसे बहुत ही नीची होती है, कहीं-कहीं तो उससे सर्वथा विपरीत वस्तु ही माँग लेते हैं । भगवान् दयालु हैं, वे भजनके बदलेमें ऐसी कोई वस्तु हमें देते नहीं जो हमारा अकल्याण करे, परन्तु हमारा परम कल्याण रुक अवश्य जाता है । इसलिये भगवान्‌से कुछ भी माँगना मूर्खताके सिवा और कुछ नहीं है ।'

बस, इसी समय वल्लभने एक बार आँखें खोलीं और सबके देखते-देखते उनका ब्रह्माण्ड फट गया । उसीके साथ मुखसे ॐका उच्चारण हुआ और प्राण निकल गये । माधवी पतिके साथ सती हो गयी ! बहिन-बहनोईकी इस प्रकारकी मृत्यु देखकर प्रतापरायको बड़ी प्रसन्नता हुई !

पहले कहा जा चुका है, प्रतापरायके यहाँ महाजनीका काम भी होता था । उनका यह कार्य भी एक प्रकारसे लोकसेवाका ही साधन था । लोकसेवाके निमित्तसे भगवत्सेवा तो प्रधान लक्ष्य था ही । आसपासके गाँवोंमें किसीको रुपयेकी जरूरत होती तो वह अपनी कोई चीज लेकर इनके पास आता । इनके पास रुपये होते तो वह जितना माँगता, उतने दे देते । एक कोठरी थी, उसमें एक लोहेकी सन्दूक थी, उसमें वह अपने ही हाथों अपनी चीज रख जाता ।

जब रुपये वापस देने होते तो आकर अपनी चीज ले जाता और ब्याजसमेत रुपये दे जाता। प्रतापराय इस बातका खयाल अवश्य रखते कि ब्याजके नामपर किसीकी अधिक रकम तो उनके यहाँ नहीं आ गयी है। अधिक होती तो वे लौटा देते। बहुत कम ब्याज लेते। लोगोंको इनके इस व्यवहारसे बड़ी सुविधा थी। इनको भी कोई झंझट नहीं था। सिर्फ खातेमें रुपये नाम जमा करने पड़ते थे। सारा काम विश्वास और ईमानदारीपर चलता था। प्रतापरायके दादाके समयसे इसी प्रकार काम होता आता था।

होनहारकी बात थी। कुछ लोगोंके मनमें बेईमानी पैदा हुई। प्रताप-रायसे अकारण डाह रखनेवालोंने भी साथ दिया। उन्होंने षड्यन्त्र रचकर इनके विश्वास और सत्यप्रियतासे अनुचित लाभ उठाना और इन्हें अपमानित करना चाहा। चार षड्यन्त्रकारियोंने समय-समयपर अलग-अलग आकर इनसे रुपये उधार लिये। रुपयोंके बदलेमें एक आदमी एक डिब्बा रख गया, तीन आदमी तीन थैलियाँ रख गये। डिब्बेवालेने कहा, इसमें बेशकीमत गहने हैं और थैलीवालोंने कहा, इसमें सोना-चाँदी है। प्रतापरायने सदाकी भाँति कह दिया—'जो कुछ हो रख दीजिये। जब रुपये देने आवें तो अपना देखकर ले जाइयेगा। वे लोग चले गये। कुछ समय बाद डिब्बेवालेने आकर रुपये देकर कहा—'ये रुपये और ब्याज लीजिये, मैं अपना गहनेका डिब्बा ले जाता हूँ।' प्रतापरायने रुपये लेकर जमा कर लिये और कहा—'ले जाइये।' उसने जाकर डिब्बा निकाला और उसे प्रतापरायके सामने लाकर खोला। खोलते ही बोला—'गजब हो गया, मैंने तो तुमको भला आदमी और ईमानदार

समझ रक्खा था, तुम तो बड़े बेईमान और नीच निकले। मेरा गहना निकालकर बदलेमें कंकड़ भर दिये हैं। वाह! इसीलिये भगवान्‌के भक्त बने फिरते हो और सत्यकी मूर्ति बने रहते हो। पाखण्डी कहींके! लाओ, मेरा गहना दो, नहीं तो वह मजा चखाऊँगा कि कई दिन याद रक्खोगे!' प्रतापराय उसकी बात सुनकर सहम गये और बड़ी शान्तिसे नम्रतापूर्वक बोले, 'भाई! मैंने तो तुम्हारे डिब्बेको छूआतक नहीं। तुम जैसे रख गये थे, वैसे ही पड़ा है।' उसने कहा, 'तब तो मैं ही कंकड़ भरकर रख गया था, तुम तो राजा हरिश्चन्द्र ठहरे; अरे भले आदमी। अब तुम्हारी कलई खुल गयी है, पापका घड़ा आखिर तो फूटता ही। खैर; अब भी चुपके-से मेरा गहना ला दो तो बच सकते हो।' प्रतापरायने गहना लिया ही नहीं था ला कहाँसे देते? इधर वह जान-बूझकर शरारतपर उतरा हुआ था, समझानेसे कैसे मानता; 'जागतेको कोई क्या जगावे।' उसको तो बात बढ़ानी ही थी। वह मनमाना बकने-झकने लगा। प्रताप सिर नीचा किये चुपचाप सब सुन रहे थे। इतनेमें वे तीनों भी आ गये। उन्होंने भी रुपये देकर अपनी-अपनी थैलियाँ निकालीं। थैलियोंमें सोना-चाँदी तो था ही नहीं, उनमें भी कंकड़-पत्थर ही निकले। अब तो एकके चार हो गये। उन्होंने गालियोंकी झड़ी लगा दी। इतनेमें ही षड्यन्त्रकारियोंकी पहलेसे की हुई व्यवस्थाके अनुसार आठ-दस आदमी और भी आ पहुँचे और झूठे ही कहने लगे कि इसने पहले हमलोगोंके साथ भी ऐसा ही दगा किया था। गाँवके सैकड़ों आदमी इकट्ठे हो गये। अब प्रतापरायको कौन सच्चा मानता!

उस समय बंगालमें मुसलमानोंका राज्य था। काजीके पास फर्याद हुई, उसे कुछ लोभ दे दिया गया। न्यायका नाटक रचा गया। प्रतापरायको जेलकी सजा हो गयी और उनके घर-द्वार, खेत-जमीनसहित सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। काजीने तथा षड्यन्त्रकारियोंने आपसमें बटवारा कर लिया। प्रतापरायकी पत्नी मालतीको हाथ पकड़कर घरसे बाहर निकाल दिया गया। इस प्रसङ्गमें प्रतापरायको अपने-पराये सभीके द्वारा अत्यन्त अपमानित होना पड़ा। वे सबकी दृष्टिमें चोर और बेईमान साबित हो गये। विपत्तिकी सीमा हो गयी। साधारण मनुष्य होता तो ऐसी स्थितिमें भगवान्का भजन तो छोड़ ही देता, बल्कि उन्हें कोसता और शायद कहता कि मैंने जीवनभर भजन किया, यदि कहीं कोई भगवान् होता तो क्या इतना अन्याय हो सकता, सो भी मुझ भजन करने-वालेके साथ! क्या भगवान् मुझे बचाता नहीं। द्रौपदी और गजराजकी सभी बातें झूठी हैं। ये सब वहम हैं। भगवान्-वगवान् कुछ भी नहीं हैं। परन्तु प्रतापराय तो बहुत ही ऊँचे भक्त थे। 'सूरदासकी काली कामरि चढ़त न दूजो रंग' की कहावतके अनुसार उनके स्वच्छ निर्मल चित्ताकाशमें जरा भी विकारका बादल नहीं पैदा हुआ। उनकी शान्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही और वे सदाकी भाँति अनवरत भगवान्का नाम-चिन्तन करते रहे। उनकी यह दशा देखकर कोई कहता, 'बड़ा पक्का चोर है, देखो न, इसके चेहरेपर जरा भी उदासी नहीं आयी।' किसीने कहा 'दम्भकी मूर्ति है, अब भी महात्माकी-सी शकल बना रक्खी है। इतना बड़ा पाखण्डी तो हमने आज ही देखा।' कोई बोला, यही तो चोर

मुँह उतनी बातें। चारों ओरसे गालियोंकी तथा व्यंग्यवाक्योंकी बौछार हो रही थी, परन्तु प्रतापराय अपनी भूमिकापर अटल थे। उनके होठोंपर मुसकराहट थी और मुखपर अपार शान्ति!

जेल जाते समय उन्होंने अपनी स्त्रीसे कहा—'मालती! सावधान, भगवान्के मङ्गलमय विधानपर जरा भी मन मैला न करना। न मालूम वे किस-किस स्वाँगमें आते हैं। तुम अपने नैहर भाईके पास चली जाओ। भगवान्का विधान होगा तो फिर मिलना होगा।' उनकी इस बातको सुनकर मालतीके नेत्रोंसे आँसूकी बूँदें टपक पड़ीं। वह भाईके घर चली गयी। प्रतापराय जेलकी काल-कोठरीमें निवास करने लगे। उनके भजनमें तथा विश्वासमें जरा भी कमी नहीं हुई।

मालती घरसे निकलते समय अपने ठाकुरजीको तथा उनकी शृङ्गारकी पिटारीको आँचलसे ढककर ले आयी थी। यह बात लोगोंको मालूम हो गयी। इस समय तो बच्चे-बूढ़े सभी इनके विरोधी हो रहे थे। जनताके मतका वास्तवमें कोई मूल्य नहीं होता, वह तो हवाके साथ बदलनेवाला हुआ करता है। गाँवके जो लोग एक ही दिन पहले प्रतापरायको महान् भक्त और सत्यवादी समझते थे, वे ही आज उसे परले सिरेका धूर्त और बेईमान बतलाने लगे। जब आँख बदलती है, तब सब कुछ अपने आप ही बदला हुआ नजर आता है। किसीने जाकर काजीसे शिकायत कर दी। काजी तो तुला बैठा ही था। झट मालतीको पकड़वा मँगाया। ठाकुरजीके गहने छीन लिये गये और जब्त जायदादको चुराकर ले जानेके अपराधमें मालतीको भी जेलखाने भेज दिया गया।

जेलका दारोगा भला आदमी था। उसने मालतीको प्रतापराय-के साथ ही रख दिया। भगवान्‌के विधानसे मालतीका जेलखानेमें पहुँचना मालती और प्रताप दोनोंके लिये सुखकर हो गया। दोनों मिलकर एक-चित्तसे श्रीभगवान्‌का भजन करने लगे। प्रतापरायका भाव बहुत ही प्रशंसनीय था। एक दिन रातके समय प्रतापराय भगवान्‌की स्तुति कर रहे थे। मालती भी चुपचाप चित्तके द्वारा उनके सुर-में-सुर मिला रही थी। प्रतापरायने कहा—'भगवन्! तुमने बड़ा ही अनुग्रह किया जो सब झंझटोंसे छुड़ाकर हमलोगोंके लिये जबरदस्ती एकान्तवासकी सुविधा कर दी। हमलोगोंका तो परम धन तुम्हारा भजन ही है। इस सुविधाके कारण हमें यह परम धन सहूलियतसे प्राप्त हो रहा है। हे नाथ! ऐसी कृपा करो, जिससे तुम्हारे भजनमें हमारी आसक्ति अत्यन्त दृढ़ और पूर्ण हो जाय। यहाँतक कि तुम्हारे मिलनेपर भी तुम्हारा भजन बढ़ता ही रहे। हमें और कुछ नहीं चाहिये। दर्शन भले ही मत दो। हम न तुम्हारे दर्शन-के योग्य हैं, न हमारा अधिकार है और न हमें तुम्हारी इच्छाके विपरीत तुम्हारे दर्शनकी उत्कण्ठा ही है, हम तो हे दयामय! बस, तुम्हारा भजन चाहते हैं। तुम दर्शन दो और कहीं भजन छीन लो तो हमें तुम्हारे ऐसे दर्शनकी भी इच्छा नहीं है। कृपा करो—प्रभो!'

निष्काम भक्तकी वाणी सुनकर और उनके हृदयका भाव समझकर भगवान् बड़े ही प्रसन्न हुए। जेलखानेकी कालकोठरी धन्य हो गयी। भगवान् वहीं प्रकट हो गये। सहस्रों सूर्योंके प्रकाशके समान वहाँ प्रकाश फैल गया। त्रिभंगसे खड़े हुए मुरली-मनोहर श्रीगोपालजीने प्रकट होकर भक्तदम्पतिको गौरवमण्डित कर

दिया। भगवान्‌की मनोहर झाँकीके दर्शनकर प्रतापराय और मालती जगत्‌की और अपनी सारी सुध-बुध भूल गये। उनकी आँखें भ्रमर बनकर भगवान्‌के मुखकमल-मकरन्दका अतृप्त होकर पान करने लगीं। शरीर आनन्दातिरेकसे रोमाञ्चित हो गये। नेत्रोंसे प्रेमके आँसुओंकी धारा बह चली। वाणी रुक गयी। वे दोनों भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े और कोमल चरणारविन्दोंका स्पर्शकर अत्यन्त धन्य हो गये। भगवान्‌ने कहा—'वत्स प्रताप! बेटी मालती! मैं तुमलोगोंकी निष्ठाको देखकर बहुत ही प्रसन्न हूँ। जो लोग सांसारिक सुख और आरामके बदलेमें मेरा भजन बेच देते हैं वे बहुत ही भोले हैं। तुम्हारी बड़ी कठिन परीक्षा हुई, तुमपर बड़े-बड़े संकट आये, परन्तु तुम कभी विचलित नहीं हुए और किसी भी संकटके टल जानेके लिये भी कभी कामना नहीं की। बात यह थी कि मैं तुम्हें विशेषरूपसे अपनाना चाहता था। मैंने इसीसे तुम्हारे पुराने कर्मोंका बचा-खुचा फल आत्मीयोंके वियोग, अपमान, कलङ्क और कारावासके रूपमें भुगताकर तुम्हें कर्ममुक्त कर दिया है। अब तुम सब प्रकारसे मेरेमें प्रवेश करने योग्य बन गये हो। तुम-जैसे ऐसी निष्ठावाले भक्त मुझको बहुत ही प्यारे होते हैं। मेरे दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं। किसी साधना-विशेषसे ये नहीं होते। जो लोग दर्शनके लिये अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और जिनको एक-एक पल युगके समान बीतता है; मेरे दर्शन उन प्रेमी भक्तोंको ही होते हैं। उनसे भी पहले उनको होते हैं, जो दर्शनकी भी परवा नहीं करते। केवल अहैतुक प्रेमसे निरन्तर मेरा अनन्य भावसे भजन करते हैं। मेरे

भजनके प्रतापसे उनको संसारकी कोई भी स्थिति प्रभावित नहीं कर सकती। तुम मेरे ऐसे ही भक्तोंमेंसे हो, इसलिये मुझे बहुत ही प्रिय हो। मालती भी तुम्हें पतिरूपमें प्राप्त करके धन्य हो गयी। अब तुम्हारी जो इच्छा हो सो माँग लो।' प्रतापरायने कहा—'भगवन्! हमारी सारी साध पूरी हो गयी। अब हमें यही दीजिये, जिसमें आपके भजनमें हमारी और भी अधिक आसक्ति हो जाय। भगवान् 'तथास्तु' कहकर मुसकराते हुए तुरंत अन्तर्धान हो गये। प्रतापरायकी अनन्त जन्मोंकी साधना भगवत्कृपासे आज पूरी हो गयी।

इधर कुछ ही दिनोंमें काजीसहित चारों षड्यन्त्रकारियोंके शरीर कोढ़से गलने लग गये। गलित कुष्ठसे उनकी बुरी दशा हो गयी। काजीकी स्त्री बड़ी समझदार थी। उसने पहले ही निरपराध प्रतापरायको सताने और उनके घर-द्वार लूटकर मालतीको अनाथिनी कर देनेका विरोध कर दिया था। एक दिन मौका पाकर उसने पतिसे कहा—'देखिये! आपकी यह बीमारी, मेरी समझसे भगवान्के भक्त प्रतापरायको पीड़ा पहुँचानेका फल है। आप यदि मेरी बात मानें तो उनको जेलसे मुक्त कर दीजिये और उनसे क्षमा-याचना कीजिये।' काजीको पत्नीकी बात जँची। उसने प्रतापराय और मालतीको छोड़ दिया। इधर उन चारों दुष्टोंको भी अपनी भूल समझमें आयी। काजीके साथ उन चारोंने आकर प्रतापरायके चरणोंमें गिरकर अपना अपराध स्वीकार करते हुए क्षमा-प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'आप सर्वथा निर्दोष हैं, हम बड़े ही नीच हैं जो हमने स्वार्थवश आपपर झूठ कलङ्क लगाया और

आपको जेलखाने भेजा। आप हमलोगोंको क्षमा करके भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। जिससे हम इस अत्यन्त दुष्ट रोगसे छूट जायँ। प्रतापरायने कहा—'भाइयो! तुम्हारा इसमें कुछ भी दोष नहीं है, तुम तो निमित्तमात्र थे। यह सब तो हमारे किये हुए कर्मोंका फल था। परन्तु इससे हमें परम लाभ हुआ, हमारी अनन्त जन्मोंकी साध पूरी हुई। हमलोग तुम्हारे इस उपकारके लिये अत्यन्त कृतज्ञ हैं।' इतना कहकर उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए कहा—'भगवन्! इन पाँचों भूले हुए भाइयोंका अपराध क्षमा होना चाहिये। इन्होंने काफी दण्ड भोग लिया है। फिर, इन्होंने हमारा तो उपकार ही किया है। आप यदि कृपा करके इन्हें रोगमुक्त नहीं करेंगे तो हमें बड़ा ही दुःख होगा। हे नाथ! हम आपकी शरण हैं। रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।' इतना कहते ही अचानक उन पाँचोंके शरीर कञ्चन-से हो गये। वे प्रतापरायके चरणोंमें गिर पड़े। अब तो गाँवके सभी लोग—वे सभी लोग जिन्होंने झूठमूठ ही प्रतापरायपर कलङ्क लगानेमें सहायता दी थी, वहाँ आकर प्रतापराय और मालतीके चरण छू-छूकर उनसे बार-बार क्षमा माँगने लगे। काजीने उनकी जब्त की हुई सम्पत्ति लौटा दी। प्रतापरायने सारी सम्पत्ति गरीबोंको बाँट दी और दोनों स्त्री-पुरुष संसार त्यागकर श्रीधाम वृन्दावनको चले गये। तीस साल वहाँ निरन्तर भगवद्भजन किया और फिर भगवान्‌का नाम जपते-जपते चित्तवृत्तियोंको भलीभाँति भगवान्‌में तल्लीन करके दोनों गोलोकको पधार गये।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

भक्त गिरवर

नर्मदाके पुण्यतटपर एक छोटे-से गाँवमें गिरवर नामक एक सदाचारी राजपूत रहते थे। घरमें बूढ़े माता-पिता थे, गौरी नामकी पतिव्रता पत्नी थी और एक छोटा लड़का था। लड़केका नाम था ऊदा। क्षत्रियके वर्णधर्मानुसार आजीविकाका जमाना नहीं था, इससे गिरवरकी गृहस्थीका आधार खेती ही था। भगवान्‌की कृपासे हर साल इतना अनाज पैदा होता कि लगान वगैरह चुकानेके बाद सालभर उसीसे अच्छी तरह सबका जीवननिर्वाह हो जाता। अन्न खरीदनेकी तो जरूरत होती ही नहीं, कपड़े-लत्तेकी आवश्यकता भी सब खेतके अनाजसे मजेमें पूरी हो जाती। गिरवर और गौरी बूढ़े माता-पिताकी सेवा मन लगाकर करते। उनको सदा यही चिन्ता रहती कि बूढ़े माता-पिताकी रुचिके विरुद्ध कहीं कोई काम हमसे न बन जाय। पुत्र और पुत्रवधूकी सेवासे अत्यन्त प्रसन्नचित्त हुए माता-पिता भी उनके सदा अनुकूल रहते और यही चाहते कि हमारे पुत्रवधू प्रसन्न रहें और हम अपनी ऐसी ही रुचि रक्खें कि उन्हें कोई भी कष्ट न हो और वे अपने हृदयसे सदा उन्हें आशीर्वाद देते रहते। गौरी सास-ससुरकी सेवा

तो करती ही, पतिकी सेवामें भी जरा त्रुटि नहीं करती। उसका जीवन ही सेवामय था, उसे सेवाका चाव था। वह यही सोचा करती कि मुझसे सास-ससुर और पतिकी रुचिके अनुसार सेवा बनती ही नहीं। सास-ससुर और पतिका भी गौरीपर बड़ा ही स्नेह और प्रेम था। वे भी सदा उसे सुखी ही देखना चाहते थे। छोटा लड़का ऊदा भी माता-पिताका आज्ञाकारी था।

सबसे बड़ी बात यह थी कि घरमें सभी श्रीभगवान्‌के भक्त थे। सब मिलकर रोज भगवान्‌की पूजा करते और भगवान्‌के सामने कीर्तन करते। गिरवर पढ़े-लिखे ज्यादा नहीं थे, परन्तु विद्याका जो चरम फल 'भगवान्‌में विश्वास' है, वह उन्हें प्राप्त था। वे सदा इसी निश्चयपर रहते थे कि 'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं।'

यद्यपि उनकी यह धारणा सच्ची थी, परन्तु भगवान् तो इसको और भी प्रत्यक्ष करके सबको दिखाना चाहते थे। गाँवके लोगोंमें जब गिरवर ऐसा कहते कि 'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं।' तब उनमेंसे कोई-कोई, सामने नहीं तो पीछेसे, यह कहता कि 'घरमें सारे सुख हैं—खानेको अन्न है, अनुकूल स्त्री है, पुत्र है, मा-बाप हैं तब ऐसा कहनेमें क्या लगता है। दुःखमें ऐसा कहे तब माना जाय कि गिरवर सचमुच ऐसा ही मानते हैं! गिरवरके कर्म-फलभोगका समय आया। भगवान्‌की इच्छा थी, वे गिरवरका गौरव विशेष बढ़ाना चाहते थे। घटनाचक्र बदला। गिरवरके माता-

पिताका देहान्त हो गया । गिरवरको इससे बड़ा दुःख हुआ । दुःख इसलिये नहीं कि माता-पितासे कोई खास सहारा था सो टूट गया, दुःख इस बातसे हुआ कि अब माता-पिताकी सेवाका सौभाग्य नहीं रहा ! सचमुच माता-पिताकी सेवाका सुअवसर बड़े पुण्यसे ही मिलता है । जो लोग जीवित माता-पिताकी सेवा नहीं करते और उनकी अवहेलना करते हैं वे पीछे बहुत पछताया करते हैं, परन्तु वह अवसर तो जीवनमें फिर कभी मिलता ही नहीं !

गिरवरको इस बातसे मनमें बड़ा दुःख हुआ, परन्तु उनके इस निश्चयमें कोई अन्तर नहीं पड़ा कि 'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं ।' लेकिन वे समझ नहीं पाये कि इसमें कल्याण क्या है ? थोड़े ही दिनों बाद आठ वर्षका बच्चा ऊदा एक दिन अपनी माँके साथ नर्मदा नहाने गया था । माँ कपड़े उतार रही थी । ऊदा जलमें घुसा कि एकाएक एक घड़ियाल उसका पैर पकड़कर खींच ले गया । बालक चिल्लाया 'अरे भगवान् ! हे ठाकुरजी ! मुझे बचाओ ।' माँ रो उठी । उसने बहुत शोर मचाया, कोई मेरे बच्चेको बचावे । लोग दौड़े परन्तु घड़ियाल तबतक उसे लेकर गायब हो चुका था । गौरी रोती-पीटती घर पहुँची । गिरवर उस समय भगवान्‌की पूजा कर रहे थे । गौरीने रोते-रोते सब हाल सुनाया । भगवान्‌की पूजा समाप्त करके गिरवर उठे । उनके मुँहसे अभ्यासवश सहसा निकल गया—'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं ।' पीछे जरा सकुचाये भी कि पुत्रशोकसे पीड़िता गौरीको मेरे ये शब्द शायद बुरे लगे होंगे । परन्तु अन्तरात्माने फिर यही कहा कि बात तो सच यही है । भगवान् तो कल्याण ही करते हैं । उन्होंने गौरीसे कहा—

'तुम रोती क्यों हो ? यह भी सोचो कि संसारमें कौन किसका है । यह तो मुसाफिरखाना है । मुसाफिर आते हैं, एक जगह ठहरते हैं, तरह-तरहके सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, फिर अपने-अपने समयपर सब अपनी-अपनी राह चल देते हैं । संसारका यह नाता स्थायी थोड़े ही है । आज जो पुत्र बना है, सम्भव है वही कभी पिता बना होगा और कभी हमारा शत्रु भी बना होगा । सब जीव अपने-अपने कर्मफल-भोगके लिये नाना योनियोंमें जन्म लेते हैं और उस जन्मका भोग समाप्त होनेपर चले जाते हैं, इसमें शोककी कौन-सी बात है ?

'याद करो, उस दिन जो महात्मा आये थे, उन्होंने क्या कहा था । उन्होंने कहा था—यह घर भगवान्का बगीचा है और तुम-लोग इसकी सेवा और सम्हाल करनेवाले माली हो । घरमें जो कुछ है सब भगवान्का है । अपना कभी न समझना । फिर तुम रो क्यों रही हो ? क्या ऊदा तुम्हारा था ? वह तो भगवान्की चीज थी । माली बगीचेमें सुन्दर आमका पेड़ लगाता है, उसे पालता-पोसता है, बड़ा करता है, खूब सेवा करता है । समय आनेपर उसमें आम लगते हैं । आमोंमें एक आम बहुत ही सुन्दर और मधुर है । माली उस समय यही तो चाहता है कि यह सबसे बढ़िया आम बगीचेके स्वामीको मैं अपने हाथों देकर आऊँ । यों तो सभी आम मालिकके हैं, परन्तु इसको तो मैं स्वयं देकर आऊँगा । मालिक प्रसन्न होंगे, यह जानकर कि मालीने कितनी मेहनतसे और लगनसे इतने बढ़िया आमका पेड़ लगाया और उसका बढ़िया-से-बढ़िया फल मुझे लाकर अर्पण कर दिया । प्यारी ! ऊदा तो मालिकके बगीचेका सबसे बढ़िया

ते नर राच्छस कूकर गदहा ऊँट बृषभ गज बोक ।
'व्यास' जु बृंदाबन तजि भटकत, ता सिर पनही ठोक ॥

सुनते ही महाराजाने अपने कर्मचारियोंको आज्ञा दी कि अब इनको पालकीमें धरकर ले चलो। सभी भृत्य पकड़नेको तैयार हो गये। तब ये बोले—अच्छा तो अब मेरे सब भाई-बन्धुओंसे तो मिल लेने दो ! ऐसा कहकर आप एक कदम्बको बाँक भरकर बड़ी देरतक रोये। बल करके जैसे-तैसे छुड़ाया गया तो चटसे दूसरे कदम्बको लिपट पड़े; दूसरेसे छुड़ानेपर तीसरेसे चिपट गये। यह देखकर राजकर्मचारियोंने कहा—बस, मिल लिये, अब तो छोड़ो ! आप कहने लगे अभी तो बहुत बाकी हैं; मुझे सबसे मिल लेने दो; इस प्रकार ये रोते जायँ और कदम्बोंसे बोलते जायँ—'आपकी शरणमें मुझे सदा आनन्द रहता है; आप ही तो मेरे माता हो, पिता हो, भाई-बन्धु हो, मित्र हो, मेरी गति हो और परम पुरुषार्थ हो। पर आप मुझपर दया नहीं करते; मैंने आपको कोई कष्ट नहीं दिया, आज मुझे क्यों छोड़ते हो ! अरे रे, आपका वियोग मुझसे कैसे सहन हो सकेगा ? आप ही बताओ मुझसे ऐसा कौन-सा आपका अपराध बन गया जिससे आप इतने कुपित हो गये हैं ? भले, मेरे दुर्भाग्यवश आप मुझे न चाहो, पर मैं जीते-जी आपको छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा; आपके बिना नहीं जीऊँगा।' इस प्रकार रोते, मिलते-करते चार प्रहर दिन बीतनेको आया। यह दशा देख एक वृन्दावनवासिनी बुढ़ियाने सरलतासे कहा—'अरे निपूते ! तोकौं लै जाइबेके ताईं राजा मथै है तौ तूँ इतनौ हठ च्यौं करै है, वाके संगमें छानों मानों चलो च्यौं नाहिं जाय; दुःख क्यों उठावै ? कदम्बनिके

ताईं बावरे! क्यौं मरौ परै है, ये कहूँ भाजि थोरे ही जायँगे? फिर आजइयौ।' आपने कहा—

व्यास सुरसिकन की रहनि बहुत कठिन है, वीर!
मन आनंद घटै न छिन, सहै जगत की पीर॥

महाराजा श्रीमधुकरशाहजी श्रीव्यासदासजीके ऊपर मरे पड़ते थे, उनका हृदय टूटा पड़ता था। वे चाहते थे कि किसी प्रकार भी ये एक बार ओड़छा चले चलें तो ठीक! किन्तु उनका वह मनोरथ अनेक प्रयत्न करनेपर भी सफल न हुआ। अन्तमें निराश होकर ओड़छाधिपति श्रीव्यासदासजीके आगे रो पड़े और लिवा ले जानेके कारण किये गये अपने हठके लिये हाथ जोड़कर इनके चरणोंपर अपना मस्तक धरके उन्होंने क्षमा माँगी और कहा, 'आपने मेरे हठवश बहुत कुछ कष्ट उठाया; जीमें अत्यन्त क्लेश भोगा। मेरे अपमानजनक स्वार्थमय कुवचनोंको भी आदिसे अन्ततक आपने सहा; मेरे दुराग्रहकी हद हो गयी; परन्तु आपने अपने मुखसे मुझे एक भी कठोर शब्द न कहा और न मेरे प्रति आपने अपने स्नेहको ही तोड़ा तथा न अपना दृढ़व्रत ही छोड़ा।' संतजीने अपने सहज स्वभावसे कहा—राजन्!

भगत बिनु केहि अपमान सह्यौ।
कहा कहा न असाधुनि कीनौ, हरि बल धरम रह्यौ॥
अधम राज मद माते लै सिबिका जड़भरत नह्यौ।
निगड़ सहे बसुदेव देवकी, सुत पटकत दुसह सह्यौ॥
हरि ममता प्रहलाद बिषाद न जान्यौ, दुख सहदेव दह्यौ।
पट लूटत द्रौपदि नहिं मटकी, हरि कौ सरन गह्यौ॥

मत्त सभा कौरवनि बिदुर सौं कहा कहा न कह्यौ ।
सरनागत आरत गजपति को आपुन चक्र गह्यौ ॥
हा हरि ! नाथ ! पुकारत, आरत और कौन निबह्यौ ।
ब्यास बचन सुनि मधुकरसाह भक्तिफल सदा लह्यौ ॥

अतएव—

हरि सौं कीजै प्रीति निबाहि ।
कपट किये नागर नट जानत सब के मन की डाहि ॥
मैं फिरि देख्यौ लोक चतुर्दस नीरस घर घर आहि ।
अपने अपने स्वारथके सब, मन दीजै अब काहि ॥
भक्ति प्रताप न जानत बिषई, भवसागर अवगाहि ।
जार जुबति गनिका कौ बेटा पहिचानै न पिताहि ॥
जैसें प्यासौ मृग धावत, नहिं पावत मृगतृस्नाहि ।
ऐसैं तन धन सुत दारा झूँठे 'ब्यास' मधुकरसाहि ॥

जो पहले धर्म-कर्मकी शिक्षा देनेमें कुशल राजपुरोहित थे वही अब श्रीभगवद्भक्तिकी दीक्षा देनेमें पूरे राजगुरु हैं। इस बातको महाराजाका हृदय स्वीकार कर चुका । मोहरूप रात्रिका पौ फट गया । जीवन सफल करनेको मार्ग मिल गया । बार-बार नमन करने लगे और अपने भाग्यको सराहने लगे । शिक्षाके साथ दीक्षा भी मिल गयी; जिनको लेने आये थे उनके हाथ अपने आप बिक चले !

अब ओड़छाधिपति वापस जाने लगे तो अपने पूज्य गुरुदेव श्रीव्यासदासजीकी आज्ञा लेने आये। उस समय राजगुरु अपने शिष्यका हाथ पकड़कर समीप बैठाकर बोले—जाते तो हो, पर याद रखना—

मेरे भक्त हैं देई देऊ।
भक्तनि जानौ, भक्तनि मानौ, निज जन मोहि बतेऊ ॥
माता पिता भैया मेरे भक्त, दमाद सुजन बहनेऊ।
सुख संपति परमेसुर मेरैं हरिजन जाति जनेऊ ॥
भवसागर कौ बेरौ भक्तै केवट बड़ हरि खेऊ।
बूड़त बहुत उबारे भक्तन लिये उबारि जरेऊ ॥
जिनकी महिमा कृष्ण, कपिल कहि हारे सर्बोपरि वेऊ।
ब्यासदास के प्रान जीवन धन हरिजन बाल बड़ेऊ ॥

अतएव, देखना कहीं इनकी सेवामें चूक न पड़ने पावे। गुरुकी आज्ञा सिर-आँखोंपर रखकर, दण्डवत्-प्रणाम करके महाराजने श्रीवनसे प्रस्थान किया। ओड़छा पहुँचे, उसी दिनसे 'कंठी धरि आवै कोइ, धोइ पग, पीवै सदा' यह दृढ़ नेम निभाने लगे और भाव-भक्ति करने लगे। जो भी संत महात्मा आ जाते, महाराजा उनकी पूरी आवभगत करते तथा उनका चरणोदक पीते और सदा-सदैव संतोंकी ही सेवामें लगे रहते। महाराजा भी अब साधु-वेषमें पूर्ण निष्ठावान् हुए। किन्तु उनकी दृढ़ निष्ठा और संत-सेवाके भावको न समझकर उनके भाई-बन्धुओंने बहुत कुछ बाधा पहुँचानी आरम्भ की एवं उनको घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे। उनसे उकताकर महाराजाने अपने पूज्य श्रीगुरुदेवको श्रीवन पत्र लिखा। उस पत्रके उत्तरमें महात्माजीने लिखा—

होइव सोई, हरि जो करिहै।
तजि चिंता चरन सरन रहि, भावी सकल मिटरिहै ॥
करिहै लाज नामा-नाते की, यह बिनती मन धरिहै।
दीन दयाल बिरद साँचौ करि, हरि दारुन दुख हरिहै ॥

सिंघनि सिंघ बीच बैठ्यौ सुत, कैसें स्यारहि डरिहै ।
ऐसें स्यामा स्यामै थरु दै, डरि कै कौन बिचरिहै ॥
सुनियत सुक मुनि बचन चहूँ जुग, हरि दोषनि संघरिहै ।
साधुनि कौ अपराध करत मधुकरसाह! न ताहि गुदरिहै ॥

राजपुरोहितानीजीने समझ लिया कि मन्त्रीके जानेसे न आये; और खतः महाराजाके जानेसे भी जो नहीं आये, वे अब यहाँ नहीं आवेंगे । अतएव अब मुझे ही उनकी सेवामें जाना चाहिये । यह विचार, वे अपने पतिसे मिल आनेके लिये महाराजासे आज्ञा लेकर पुत्रोंके साथ वृन्दावन आयीं । किन्तु श्रीव्यासदासजीने

---

१. गोस्वामी श्रीनाभाजीने 'भक्तमाल' (भक्त-संख्या १५२ छप्पय ११७) में लिखा है—

× × × ×
मधुकर नृप सरबसु दियो ।
भक्तनि कौ आदर अधिक
राजबंस में इन कियौ ॥

इसकी टीकामें श्रीप्रियादासजीने कहा है—

मधुकरसाह नाम कियौ लै सफल जातें
भेष गुन सार ग्रहै, तजत असार है ।
'ओरछे' कौ भूप भक्त भूप सुखरूप भयौ,
लयौ पन भारी, जाके और न विचार है ॥
कंठी धरि आवै कोइ, धोइ पग, पीवै सदा,
भाई दूखि खर गर डार्‌यौ माल भार है ।
पाँय परछाल कही 'आज जू निहाल किये'
हिये द्रये दुष्ट पाँव गहे दृग धार है ॥
(कवित्त ४८८)

पूरी उदासीनता दिखायी, तब अन्य लोगोंने सिफारिश की कि यह तो आपकी अर्धाङ्गिनी हैं; इनके साथ कठोरता करनी उचित नहीं है। आपने उत्तर दिया कि—

जो तिय होइ न हरि की दासी।
कीजै कहा रूप गुन सुंदर, नाहिन स्याम उपासी॥
तौ दासी गनिका सम जानो दुष्ट कुटिल मसवासी।
निसिदिन अपनौ अंजन मंजन करत बिषै की रासी॥
परमारथ सुपनें नहिं जानत, अंध बँधी जम फाँसी।
ताके संग रंग पति जैहै, तातें भली उदासी॥

यह सुनकर पुनः बोले, ऐसा करेंगे तो आपको इनका शाप लगेगा। पुनः उत्तर दिया—

तिनुका कैसें रोकि सकै पावस परवाह नदी कौ।
हरि अनुरागिनहिं लगै सराप न, सुर नर जती सती कौ॥

तब तो सब चुप हो चले गये। इस सिद्धान्तका प्रभाव पुरोहितानीजीके हृदयपर पड़ा। वह समय पाकर इनके चरणोंमें गिरी और उसने दीनभावसे शरणमें रहनेकी प्रार्थना की—'आपकी जो आज्ञा होगी आपकी यह दासी उसे प्राणपणसे पालन करनेको प्रस्तुत है। आपके और आपके धर्म-प्रणके विपरीत रहकर यह जीना नहीं चाहती।' संतजी बोले—'अब तो यदि हरिदासी होकर वैष्णवोंकी सेवा करनी हो तब तो यहाँ तुम्हारा निर्वाह हो सकता है, नहीं तो नहीं।' स्वीकार कर लेनेपर शिक्षा-दीक्षा देकर उसका 'वैष्णवदासी' नाम रख दिया और उसे संतसेवा करनेके कार्यमें

लगा दिया। पुत्रोंके ऊपर माताकी स्वाभाविक ममता होती ही है; अत: उनके लिये प्रार्थना की तो आप फिर वही बात बोले—

पूत मूत कौ एक मग, भगत भयौ सो पूत।
'ब्यास' बहिरमुख जौ भयौ, सो सुत मूत कपूत॥

और—

हरि बिमुखनि जननीं जनि जावै।
हरि की भक्ति बिनु कुलहि लजावै॥
हरि बिनु बिद्या नरक बतावै।
हरि नाम पढ़ै साधुनि अति भावै॥
हरि बोलि हरि बोलि कहूँ न ध्यावै।
हरि बोले बिनु 'ब्यास' मुँह न दिखावै॥

बहुत कहने-सुननेपर आप मान तो गये, पर उनको आपने दीक्षा नहीं दी। एकने परम संत स्वामी श्रीहरिदासजीकी साधुताका बखान किया तो आपने उसको चतुर समझकर उनके शिष्य होनेकी आज्ञा दी और उसने स्वामीजीसे दीक्षा ली। वह 'चतुर जुगलकिशोरदास' के नामसे प्रसिद्ध है। इसका संतोंमें बहुत अनुराग था।*

कुछ दिन संत-सेवा करते बीते। एक समय महात्मा श्रीव्यासदासजीने अपनी पूर्वगृहिणी किन्तु अब शिष्या वैष्णवदासीमें नारी-स्वभाव-सुलभ काम-विकारका कुछ ढंग देखकर उनको एकान्त-शान्तिमें समझाया—

बिनती सुनिये वैष्णवदासी।
या सरीर में बसत निरंतर नरक ब्याधि पित खाँसी॥

---

* इनकी रची हुई कविता मिलती है। व्रज छोड़कर ये अन्यत्र कहीं नहीं गये।

ताहि भुलाइ हरिहि दृढ़ गहियौ, है सतसँग सुख रासी।
बढ़ै सुहाग ताहि मन दीनें, और बराक बिसासी॥
ताहि छाँड़ि हित करै और सौं, गरे परै जम फाँसी।
दीपक हाथ परै कूवा में, जगत् करै सब हाँसी॥
सर्वोपरि राधापति सों रति करत अनन्य बिलासी।
तिनकी पद रज सरन व्यास कौ गति बृंदाबनवासी॥

श्रीवैष्णवदासीजी सारी बात समझ गयीं और तबसे उनकी कोई चेष्टा वैसी नहीं हुई। एक समय रात्रिमें सदैवकी भाँति सब संत ब्यारू करने बैठे, साथ ही श्रीव्यासदासजी भी बैठे। वैष्णवदासी पूरी परसकर दूध परसने लगीं। परसती-परसती जब श्रीव्यासदासजीको परसने लगीं तो संयोगवश इनके कटोरेमें दूधके साथ मलाई भी गिर पड़ी। वह दूध इन्होंने न पिया। ब्यारू हो चुकनेके बाद आपने कहा, 'तुमने यह क्या किया? और सब संतोंको दूध, मुझे दूध और मलाई दोनों! तुमने यह पंक्तिभेद किया; मेरे धर्मको तुम कलङ्क लगाना चाहती हो? तुम यहाँसे चली जाओ, इतना भेद-भाव रखनेवाली तुम अभी संत-सेवाके योग्य नहीं हो।' यों कहकर उसे सेवासे हटा दिया। उसने बहुत निहोरा किया परंतु उसकी एक न सुनी। उस दृढ़व्रतवाली देवीने भी यह प्रण किया कि संत-सेवा मिलेगी तो ही अन्न-जल ग्रहण करूँगी; नहीं तो नहीं। और ऐसा करके अन्न-जल त्याग दिया। श्रीव्यासदासजीसे संतजनोंने कहा, 'महात्माजी! आप अनजानमें हुई एक साधारण-सी बातपर इतना कठिन दण्ड देंगे तो आपके आश्रित जीवका भला निर्वाह कैसे होगा? उनका दोष भी नहीं है। यदि वे दूधसे पृथक् करके मलाई आपको लाकर

देतीं, तब तो आपका यह उलाहना कुछ ठीक भी कहा जा सकता था; किन्तु अपने-आप दूधके साथ आपके कटोरेमें मलाई गिर पड़ी इसमें उन बेचारीका क्या दोष ? आपने उनको निकाल दिया यह हम सबको अच्छा नहीं लगा। और आप यह कहें कि उन्होंने यह भूल ही क्यों की, तो बात यह है कि, 'जो सेवा करता है उससे भूल भी कभी हो ही जाती है। ऐसी अवस्थामें क्या उसे निकाल देना उचित है या समझा देना ? उनका जी दुखाया है, उन्होंने आज तीन दिन हुए अन्न-जलतक नहीं लिया है। क्षमा कीजिये'—

तिय हित विनय संत सब कीन्हे।
ऐसो तब करार करि दीन्हे॥
भूषन बेंचि जो संत खवावै।
तौ मेरे घर आवन पावै॥

(रामरसिकावली)

यह सुनते ही उस वैष्णवदासीने तुरंत अपने अङ्गके सब आभूषण उतारकर बाजारमें बेच दिये।* और उस रकमसे रसोई बनानेका बहुत-सा सामान खरीदकर मुकाममें पहुँचा दिया। अनेक प्रकारके पदार्थ बनवाकर सेव्य श्रीजुगलकिशोरजीको भोग धराया। सभी संतों-महात्माओंको निमन्त्रण दे, बुलाकर प्रसाद कराया और सब संतोंका चरणामृत तथा सीथ-प्रसाद उसने लिया।† तब दृढ़-धर्मी

---

*कहते हैं बाईस हजार रुपयोंके हुए थे।

†तब निज भूषन बेंचिके, नारी अति हरषाय।
संत समाज बुलाइके, सादर दियौ पवाय॥

(स्व० म० श्रीरघुराजसिंहजी रीवाँ)

महात्माजीने पुनः वैष्णवदासीको संत-सेवा सौंपी। आप ऐसे पूरे विरक्त और संत-सेवी थे। इसी प्रकार परमभाग्यवती देवीजीने भी जब अपने प्रणके अनुसार दृढ़-धर्मीसे संत-सेवा ले ली तभी प्रण छोड़ा और महाप्रसाद पाया। लोगोंने चर्चा की कि 'देखो इसने अपने पतिके जीते-जी सब शृङ्गार उतार दिया; जरा भी लोक-लाज न रक्खी!' इसपर परमभक्तिमती श्रीवैष्णवदासीजी कुछ न बोलीं, पर महात्माजीने सबको सुनाया—

व्यास भक्ति सहगामिनी टेरैं कहत पुकारि।
लोक लाज तब ही गई, बैठी मूँड़ उघारि॥

ओड़छासे परमभक्त महाराजाने सेव्य श्रीयुगलकिशोरजीको धारण करानेके लिये स्वर्णकी एक नकसीदार सुन्दर वंशी बनवाकर भेजी। उसको आप बड़े चावसे प्रभुके करमें धारण कराने लगे। कुछ मोटी थी, जिससे प्रभुकी अँगुली किञ्चित् छिल गयी; रक्त निकल आया। यह देख आपने वंशीको पटक दिया और तुरंत जलमें भिगोकर एक कपड़ा अँगुलीमें बाँध दिया।* मनमें बहुत पछताये; महाप्रसाद नहीं पाया। वंशीको दोष देने लगे। सायङ्काल प्रभुने अपने-आप वंशी धारण कर ली जिसको देखकर आप अत्यन्त आनन्दित हुए।

---

* वह वस्त्र आज भी आपके परम धन प्रभु अपनी अँगुलीमें बाँधे रहते हैं। अब 'पन्ना' में हैं। श्रीव्यासदासजी निकुञ्ज पधारे, पश्चात् महाराजा वृन्दावनसे ले गये। वृन्दावनमें उनकी जगह दूसरी युगल मूर्ति विराजमान हैं। स्थल व्यास-घरोंके नामसे प्रसिद्ध है।

किसी समय महाराजकी भेजी हुई एक सुन्दर जरकसी पाग आयी। आप प्रभुके मस्तकपर बाँधने लगे; किन्तु नयी और जरकसी होनेके कारण जैसी बाँधनी चाहते थे वैसी बँधती नहीं थी, खिसक जाती थी। ऐसे बहुत बार खिसकती देख झुँझलाकर उसे वहीं छोड़—'लीजिये, मेरी बाँधी पसंद न आती हो तो आप ही बाँधिये'—कहते हुए रिसियाकर सेवा-कुञ्जके दरवाजेपर जा बैठे। यहाँ प्रभुने स्वयं पाग बाँध ली। दर्शकोंने इनकी बड़ाई की कि, 'आपको धन्य है, आज आपने प्रभुको बड़ी सुन्दर पाग बाँधकर हमको दर्शनोंका लाभ दिया।' इतना सुनते ही आप तुरंत दौड़े। आकर देखते हैं तो सचमुच मनमानी पाग बाँधी है। गद्गद हो गये। प्रेमावेशमें बोल उठे—'अरे सुघड़ सलोने! तुझे अपनी ही बाँधी पसंद है; खूब सुन्दर बाँधी है। इसके सामने भला मेरी बाँधी क्यों पसंद करने लगा?'

संत श्रीव्यासदासजी भजन-भावना और रासरंगमें जितने गहरे रसिक थे उतने ही संत-सेवा करनेमें भी पूरे परमार्थी थे। इनके पास सदैव संतजनोंकी मण्डली आती-जाती रहा करती। ये सबके आगे विनम्रभावसे हाथ जोड़े रहते, उनको सब प्रकार सुख देते। संतोंका आना इनको बड़ा प्रिय लगता, पर उनका जाना दुःखका कारण बन जाता। इसलिये जहाँतक बनता ये संतोंको रोक रखनेका प्रयत्न करनेमें कोई कसर नहीं करते, पुनः आनेकी प्रार्थना भी करते। संत भी इनके शीलस्नेहयुक्त निश्छल स्वभावके कारण इनके पास विरमे रहते। वे कहा करते—

श्रीवृन्दावनमें मंजुल मरिबौ ।
जीवन्मुक्त सबै ब्रजवासी पद रज सों हित करिबौ ॥
जहाँ स्याम बछरा ह्वै गायनि चौंपि तृननि कौ चरिबौ ।
हरि बालक गोपिन पय पीवत हरि आँकौ भरि मिलिबौ ॥
सात रात दिन इंद्र रिसानौ, गोबरधन कर पर धरिबौ ।
प्रलय मेघ मघवाहि बिमद करि कहि सब सों नहिं डरिबौ ॥
अघ बक बकी बिनासि रास रुचि सुखसागरमें तरिबौ ।
कुंज भवन रति पुंज चयनि करि राधाके बस परिबौ ॥
ऐसे प्रभुहिं पीठि दै लोभ रति माया जीवनि जरिबौ ।

एक संत पुरुष इनकी सरल साधु-वृत्ति, सत-सेवा और सहनशक्तिके यशको सुनकर परीक्षा लेने पधारे। मन्दिरके भीतर प्रवेश करते ही भोजन माँगा। बोले, 'हमारे रामको बड़ी क्षुधा सता रही है; शीघ्र भोजन कराओ; भूखे नहीं रहा जाता है।' ये हाथ जोड़कर बोले, 'संतजी! प्रभुको भोग धराये बिना आपको कैसे भोजन कराया जाय? आइये शान्तिसे विराजिये, बहुत देर नहीं है; थोड़ी देरमें अभी राजभोग लगेगा, धीरज रखिये।' इतना सुनते ही संतजी इनको गालियाँ-पर-गालियाँ देने लगे। संत-सेवी श्रीव्यासदासजीने मौन होकर बैठे-बैठे उनकी वह सब गालियाँ ऐसे सुनीं, जैसे कोई अपनी प्रशंसाके वचन सुनकर प्रसन्न होता है। दर्शकोंमेंसे किसीने उनको यह कहकर गालियाँ देनेसे मना करना चाहा कि 'आपका ऐसा क्या काम बिगाड़ दिया है जो गालियाँ दे रहे हो।' इतनेमें इन्होंने तुरंत यह कह समझाया कि ये गालियाँ नहीं हैं।

'व्यास बड़ाई और की जु मेरे मन धिक्कार ।
संतन की गारी भली यह मेरौ सिंगार ॥

इतनेमें भगवान् श्रीजुगलकिशोरजीके राजभोग लग चुका। तब महात्माजीने एक बड़ा थाल भरकर संतजीके आगे रक्खा और हाथ जोड़कर बोले, 'कृपा करके आप यह प्रसाद पा लीजिये। जो बाकी रही हों उन्हें फिर देना।' संतजी प्रसाद पाने बैठे और यह उनको हवा करने लगे। संतजीने महाप्रसाद पाकर बची हुई जूठनकी थाल यह कहकर इनके मस्तकमें मारी कि 'ले, यह तेरा भाग है।' महात्माजीने बार-बार उनके चरणोंमें अपना मस्तक नवाया और वह सब जूठन समेटकर आप पाने लगे।

अब परीक्षक संत पुरुषजीसे न रहा गया। वह अत्यन्त आनन्दित होकर धन्य-धन्य कहने लगे, चरण छूने लगे और बोले— 'मैं आपकी साधु-सेवाकी उत्कृष्टताको सुनकर परीक्षा करने आया था। इसमें सन्देह नहीं कि उस सुनी हुई बातसे कई गुना अधिक आप निश्चल, सात्त्विक और श्लाघनीय महात्मा हैं।' ये बोले—'यह सब आप संतोंकी परम कृपाका प्रताप है। इसीसे मुझे—

भावत हरि प्यारे के प्यारे।
जिनके दरस परस हरि पाये, उघरे भाग हमारे॥
दूरि भये दुख दोष हृदयके कपट कपाट उघारे
भवसागर बूड़त हमसे अपराधी बहुत उबारे
भूत पितर देई देवा सों झगरे सकल निवारे।
सुक मुखबचन रचन कहि कोटिक बिगरे 'ब्यास' सुधारे॥

परीक्षक संत अपनी साधुताको इनकी साधुताके आगे तुच्छ मानने लगे—

इनकी महाप्रसादनिष्ठा भी अपूर्व थी। ये अपने सेव्य श्रीजुगलकिशोरजीका महाप्रसाद तीन सौ साठ दिन समान रीतिसे सेवन करते थे। अपने इष्टदेवके जो पदार्थ भोग लग चुका उस श्रीमहाप्रसादके एक कनिकाको ही समस्त व्रतोंसे विशेष महत्त्वयुक्त व्रत मानते थे; और इसमें ये दृढ़व्रती थे। इनके इस महाव्रतमें यदि कोई नूतन संत इनके यहाँ आते और वह एकादशीके दिन महाप्रसाद पाते देख शङ्का करते तो आप उनको तुरंत कह दिया करते थे कि 'भगवन्! मैं एकादशीका भक्त नहीं हूँ; मैं तो—

(श्री) राधावल्लभ कौ हौं भावतौ चेरौ।
राधावल्लभ कहत सुनत ही, मन न नेम जम केरौ॥
राधावल्लभ वस्तु भूलिहूँ कियो अनत नहिं फेरौ।
राधावल्लभ व्यासदास के सुनहु स्रवन दै टेरौ॥*

इसी हेतुसे—

हमारी जीवन मूरि प्रसाद।
अतुलित महिमा कहत भागवत, मेटत सब प्रतिवाद॥†

---

* कहनी करनी करि गयौ एक व्यास इहि काल।
लोक बेद तजिके भजे राधावल्लभ लाल॥
(श्रीहितध्रुव-वाणी)

† यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते॥
(श्रीमद्भा० ९। ५। १६)

जो षटमास व्रतनि कीने फल, सो इक सीथ के स्वाद ।*
दरसन पाप नसात, खात सुख, परसत मिटत बिषाद ॥
देत लेत जो करै अनादर, सो नर अधम गवाद ।†
ब्यास प्रीति परतीति रीति सों जूँठनि ते गुन नाद ॥

यह अपने परम पूज्य श्रीगुरुदेव हितप्रभुजीकी भाँति विधि-निषेधके झंझटसे एकदम पृथक् थे । आप जब-तब कहा भी करते—'ब्यासहि अब जिनि जानियौ, लोक बेद कौ दास ।' अन्तमें आप अपना अहोभाग्य किस प्रकार मानते हैं, यह भी देखने ही योग्य है । कहते हैं—

---

* षड्भिर्मासोपवासैस्तु यत्फलं परिकीर्तितम् ।
विष्णोर्नैवेद्यसिक्थेन तत्फलं भुञ्जतां कलौ ॥ (स्कन्दपुराण)

'छः महीनेतक एकादशी इत्यादि व्रत-उपवास करनेसे जितना फल शास्त्रोंमें लिखा है, उतना फल तो भगवान् श्रीहरिके नैवेद्यका कणमात्र पानेसे प्राप्त हो जाता है ।'

एकादशीसहस्रेण द्वादशीनां शतेन च ।
यत्फलं लभते गौरि विष्णोर्नैवेद्यभक्षणात् ॥ (पद्मपुराण)

'हे गौरि ! हजारों एकादशी, सैकड़ों द्वादशी इत्यादिका व्रत करनेसे जो फल होता है, वह फल केवल श्रीहरिका महाप्रसाद सेवनमात्रसे होता है ।'

† स्वतः एकादशी ऋषि-मुनियोंके समक्ष कहती है—
प्रसह्य हरिदत्तान्नं ये भुञ्जन्ति नरोत्तमाः ।
तान् विलोक्य पवित्राहमेकादशी द्विजोत्तमाः ॥ (नारदपाञ्चरात्र)

'जो उत्तम मनुष्य बलात्कारसे भी श्रीहरिप्रसादको मेरे दिन पाते हैं, हे उत्तम द्विजो ! उनको देखकर (उनके दर्शनसे) मैं एकादशी स्वतः पवित्र होती हूँ ।'

तन अबही कौ कामैं आयौ ।
साधुचरन कौ संग कियौ,जिनि हरिजू कौ नाम लिवायौ ॥
धन्य बदन मेरौ, जिनि रसिकन कौ जूठौ खायौ ।
रसना मेरी धन्य, अनन्यनि कौ चरनोदक प्यायौ ॥
धन्य सीस मेरो, श्रीराधा रवन रेनु रस लायौ ।
धन्य नैन मेरे, जिनि बृंदाबन कौ सुख दिखरायौ ॥
धन्य श्रवन मेरे, श्रीराधा रवन बिहार सुनायौ ।
धन्य चरन मेरे, श्रीबृंदाबन गहि अनत न धायौ ॥
धन्य हाथ मेरे, जिनि कुंजनिमैं मंदिर छायौ ।
धन्य ब्यास के श्रीगुरु, जिनि सर्वोपरि रंग बतायौ ॥

ब्यास भक्ति कौ फल लह्यौ, बृंदाबन की धूरि ।
हित हरिबंस प्रताप तें पाई जीवनि मूरि ॥

इनका परिचय रसीले सुलेखक श्रीवियोगी हरिजीने अपनी प्यारी लेखनीसे जिन मधुर शब्दोंमें दिया है, वह इस प्रकार है—

भक्त सिरोमनि 'ब्यास', ओरछा नगर निवासी ।
श्रीहरिबंस प्रसंस शिष्य हित धाम बिलासी ॥
अनुरागी रसमसो रँगीलो राधा पी को ।
बिधि निषेध मग त्यागि पान किये घूँट अमी को ॥
राधावल्लभ सेइ निगम की कानि न राखी ।
ब्रज बिहार पद गाय कही अति साँची साखी ॥
रसिकाभरन अनन्य 'ब्यास', जय आनँद रासी ।
श्रीब्रजचंद चकोर राधिका चरन उपासी ॥

मामा श्रीप्रयागदासजी

गुन गौरव औ कृति कीर्ति पराइ बिलोकि हियो बिगसात अहै ।
अघ दोष न देखत काहु के जे, जेहि देखत दोष नसात अहै ॥
अकलंक मयंक सुभानन तें बचनामृत 'बिंदु' चुचात अहै ।
तिनकी पग धूरि सुमंगल मूरिहि भूरि मेरो प्रनिपात अहै ॥१॥
जिनके सुचि सीतल सील में जायके कोप की आग बुझात अहै ।
लहि बारि प्रसंसाहु मानस जो सकुचानहि में बढ़ि जात अहै ॥
समसील उदार सबै जगती जेहि राममयी दिखरात अहै ।
अस संत अनंत समान कोऊ बहु 'बिंदु' तिन्हैं प्रनिपात अहै ॥२॥

आयो धौ यहि काल कस, अति दुकाल हा हंत !
गयो जु उड़ि केहि ब्योम वै राजहंस अरु संत ॥

प्राचीन कालमें ऐसे अनेक संत हुए हैं, जिन्होंने अपनी आत्मामें परमार्थको सार्थक और इस प्रकार भक्ति-ज्ञान और वैराग्यको चरितार्थ किया था । वे आत्मदर्शी सिद्ध थे । परमात्मतत्त्व उन्हें सिद्ध था । अतएव वे आध्यात्मिक महात्मा थे । उनका हृदय आत्मसरोवरका पुण्डरीक था । वे उच्च कोटिके भावुक और प्रेमी थे, पर उनका विहारस्थल आत्मा था अथवा वह मन, जो उस आत्मसरोवरमें निमज्जित होकर चिदाकार हो चुका था । वे आत्माराम और आत्म-क्रीड थे । उनकी रति-गति आत्मामें थी । वहीं वे अपने रामसे खेलते और लाड़ लड़ाते थे । उनके हृदयकी आँखें खुली हुई थीं और वे समदर्शी थे । उनके लिये सम्पूर्ण जगत्, कहीं चित्रकूट, कहीं मिथिला, कहीं वृन्दावन और कहीं अयोध्या हो रहा था ।

मधुर रस राते मदसे माते ।
कबहुँ बिहँसि नयना भरकाते, कबहुँ ताल दै गाते ।
सहित उछाह प्रिया प्रियतम पर कल्प सुमन बरसाते ॥
चित्रकूट मिथिला बृंदाबन कुंज कुंज रमि जाते ।
'केशी' सुगम ध्यान धारणा जीवन को फल पाते ॥

(भगवती मञ्जुकेशी देवी)

उन्हें सर्वत्र 'सियाराम' ही दिखायी देते थे । उनके लिये परत्व यदि कहीं था, तो केवल अद्वैत परमतत्त्व परब्रह्ममें ही । वे क्या करते, उनके रामने तो समस्त दिशाओंको अपना क्रीडास्थल बना लिया था । फिर बेचारा द्वैत अपनी विरोधलीला कहाँ दिखाये । पहले तो उनके रामने उनके सम्पूर्ण हृदयको ही अधिकृत कर लिया, पुनः उनके अखिल वातावरण (दिग्व्योम) को घेरकर उनकी इन्द्रियोंके सब रास्तोंमें अड़ गये । कोई जाय तो कहाँ जाय !

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

(श्रीमानस)

उस नवल नटनागरके नेपथ्यमें पहुँचकर उन्होंने देखा कि वही राम है जो साकेतके पूर्णैश्वर्यपीठ सार्वभौमचक्रवर्ति-राज्यसिंहासन-पर अखिल जगन्नायक होकर सुशोभित हैं और वही वृन्दावन आदि कुञ्जोंमें कुञ्जनायक होकर रमण कर रहा है । उन्हें उसकी क्रीडामें सम्मिलित होना था, अतः जहाँ-जहाँ वह नायक वहाँ-वहाँ उसके वे सहायक—जहाँ-जहाँ कमल वहाँ-वहाँ मधुकर, जहाँ-जहाँ शर्करा वहाँ-वहाँ पिपीलिका । रसको रसिक कैसे छोड़े ? रस-

रसाकरमें डूबे हुए रस-भोगी भला, तर्कके कटु कर्कश कर्कटसे अपने कोमल अङ्ग क्यों कटाने लगे ? उस परम प्रियतमने उन्हें इतना लुभा लिया है, इतना अपना लिया है, उन्हें इस तरह अपनेमें आसक्त कर रक्खा है, कि उसके सौन्दर्य-माधुर्यके आस्वादनसे उन्हें अवकाश ही नहीं ! वे तो उस प्रेयान् रसके ग्रहण करनेके एक करणमात्र होते हैं—उनकी एक ही ब्रह्माकारवृत्ति होती है। रसिकता-का यही स्वरूप ही है। यथार्थ वस्तु-ज्ञान या विशेषज्ञता ही मार्मिकता है और मार्मिकता ही रसज्ञता है तथा रसज्ञता ही यथार्थ रसिकता है। यहाँ ज्ञान और रस अथवा प्रेम भिन्न पदार्थ नहीं, किसी चिन्मय और अद्वितीय तत्त्वके वे गुण-धर्म अथवा विशेषणमात्र हैं। सूफियोंका यही लक्ष्यस्थान है—

राम रहस के ते अधिकारी।
जिन को मन मरि गयो, और मिटि गई कलपना सारी॥
चौदह भुवन एक रस दीखै, एक पुरुष, एक नारी।
'केशी' रामनाम सोइ जानै, ध्यावै अवधविहारी॥

जो भरे-पूरे होते हैं, उन्हींमें रसिकता और क्रीडासक्ति उत्पन्न होती है। उनका जीवन ही सुख-विलासमय होता है। उन्हें अपने प्राणारामसे अवकाश ही इतर भावनाओंके लिये कहाँ ? मन-बुद्धि और उनके चित्तको तो उसने अपनेमें लीन कर लिया है। लखनऊ-के नवाब वाजिदअलीशाहसे मदोन्मत्त मौलवियोंने श्रीअयोध्याजीकी जन्मभूमिपर आक्रमण करनेके लिये बहुत आग्रह किया, तब उनकी दरख्वास्तपर उन्होंने यह शेर लिखकर दस्तखत कर दिये—

हम बन्दए-इश्क़ हैं, मज़हबसे नहीं वाक़िफ़।
काबा हुआ तो क्या, बुतखाना हुआ तो क्या॥

जब एक रागासक्त प्राकृत रसिकके हृदयमें द्वेष-दुराग्रहके लिये स्थान नहीं रह जाता, तब भगवद्रसिक समता और निर्विरोधता-की किस काष्ठातक पहुँच जायगा, यह सहृदयजन सहज ही अनुमान कर सकते हैं। संतोंकी यह विशेषता है कि वे समशील और उदाराशय होते हैं। समता ही वह भूमिका है, जिसमें उदारता, विश्वबन्धुता, सर्वात्मीयता और दयालुता आदि दिव्य लताएँ उत्पन्न होती हैं। भगवद्भक्त होनेका यह लक्षण है, भगवच्चरणों-में चित्तसमर्पणका यह प्रमाण है कि उसमें भगवदीय दिव्य गुणोंका उद्गम हो। भगवान्‌के भक्त भगवान्‌से भी अधिक माने जाते हैं—'राम ते अधिक राम कर दासा।' उसका हेतु यह है कि यदि भक्त न होते तो भगवान्‌को कौन जानता और जनाता, कौन मानता और मनाता? यदि वेदोंने भगवान्‌की भावना उत्पन्न की है, तो भक्तों या संतोंने भगवान्‌को उत्पन्न किया है—'लोग कहते हैं कि दहको माबूदने पैदा किया। मैं वह खालिक हूँ कि मेरे 'कुन' से खुदा पैदा हुआ।' भगवान् भक्तोंके हैं और भक्तोंके लिये हैं, इसी प्रकार भक्त या संतजन भगवान्‌के हैं और भगवान्‌के लिये हैं—

जद्यपि राम सीवँ समता के। भरत सनेह सिंधु ममता के॥

आज ऐसे ही भगवान्‌के एक अलबेले भावुक संतकी कुछ चर्चा करके अपनी वाणीको कृतार्थ करनेकी इच्छा है।

जनकपुरमें एक ब्राह्मणी माता रहती थी। उसके पति स्वर्गमें थे और विपत्ति उसके घरमें। उसका एकमात्र पुत्र प्रयागदत्त था। एक दिन उसने अपनी मातासे पूछा—'माँ! क्या मेरे और कोई नहीं है।' माताने बच्चेके सन्तोषार्थ कह दिया—'हाँ, बेटा! तुम्हारे

है क्यों नहीं कोई । तुम्हारे बहनोई हैं । वे चक्रवर्ती राजाधिराज हैं । अयोध्या उनकी राजधानी है ।' मिथिलाकी माताएँ स्वभावतः श्रीजनकनन्दिनीके प्रति पुत्री या भगिनीभाव रखती हैं । बच्चेने कहा—'तो, माँ ! मैं उनके पास जाऊँगा ।' माता बोली—'अच्छा, कुछ और बड़े हो तब जाना ।' इस प्रकार टाल दिया । लेकिन बालकके हृदयमें बहनोई बस गये । उसकी सुरति बहनोईमें लग गयी । किसी तरह कुछ दिन बीते । फिर एक दिन प्रयागदत्तने मातासे कहा—'माँ ! अब तो मैं सयाना हो गया । अब मुझे बहनोईके पास जाने दो ।' माताने उत्तर दिया—'अच्छा, ठहरो, मैं तैयारी कर दूँ, बहिनके लिये कुछ लेते जाओ ।'

माताने चावलोंके कुछ कण इकट्ठे किये थे । उन्हें पीसकर और मीठा मिलाकर कुछ मोदक बनाये, जिन्हें मिथिलामें 'कसार' कहते हैं । उन कसारोंकी पोटली प्रयागदत्तको देकर विदा किया और कुछ सत्तू उनके खानेके लिये भी दे दिया ।

प्रयागदत्त बहिन-बहनोईसे मिलने बड़ी प्रसन्नता और उत्सुकता-से चले । मनमें यही होता कि कैसे जल्द और जल्दसे भी जल्द अयोध्या पहुँच जाऊँ । अगर पर होते तो वे जरूर उड़ जाते ! तब भी न आकाशमें सही पृथ्वीपर उड़तेही-से जा रहे हैं । जहाँ कहीं अपने शारीरिक कृत्यके लिये ठहरते हैं, किसी वृक्षकी डालमें वह पोटली टाँग देते हैं । इस प्रकार कुछ दिनोंमें वे अयोध्याजी पहुँच गये ।

अयोध्यामें प्रयागदत्त अपने चक्रवर्ती बहनोईको खोजने लगे, जिससे पूछते, वह हँस देता । बेचारे बहुत परेशान हुए । बहनोईजी

कहीं नहीं मिले । मणिकूटकी ओर गये । वहाँ भी खोजते रहे । फिर तंग आकर एक जगह (जहाँ सीताकुण्डको जानेवाले रास्तेके दक्षिण सघन विटपावलिसे आच्छादित पुरानी मसजिद है, जिसमें पूर्वमें हनुमन्निवास-श्रीअयोध्याके महात्मा बाबा गोमतीदासजी महाराज भजन करते थे) बैठ गये । बहुत थक गये थे । बहनोई-जीको रिश्तेसे खूब गालियाँ देने लगे । कहने लगे—'देखो इतना ढूँढ़ा, हैरान हुआ, कहीं मिलता ही नहीं । न जाने कहाँ रहता है ? अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ?' इतनेमें एक श्वेत हाथीपर सोनेकी अम्बारीमें विराजे हुए उनकी बहिनसहित बहनोई साहब आ निकले ! हाथी वहीं साले साहबके पास बैठ गया । श्रीकिशोरीजीने पूछा—'भैया ! माताने हमारे लिये कुछ दिया है ?' भैयाकी तो गति ही अचिन्त्य हो गयी । किसी तरह अपनेको सँभालकर कहा—'हाँ, बहिन ! यह है, लो ।' पोटली दे दी और बोले—'मैंने तो बहुत खोजा, तुमलोग मिले ही नहीं । न जाने कहाँ रहते हो ! कोई बताता ही नहीं ।' श्रीकिशोरीजीने पोटली लेते हुए कहा—'हाँ, भैया ! तुम्हें कष्ट तो बहुत हुआ । क्या करें, हमलोग ऐसी जगह रहते हैं, जिसे सब लोग नहीं जानते ।' जगन्माताने माताकी भेजी हुई और भैयाकी दी हुई उस पोटलीमेंसे दो कसार निकाल लिये और शेष प्रयागदत्तको देते हुए कहा—'भैया ! इन्हें तुम खाना । और अब तुम जाओ घर, माता चिन्ता करती होगी । कुछ दिनोंके बाद फिर आ जाना और मातासे कह देना कि हमलोग बड़े सुखसे हैं । फिर मिलेंगे ।' हाथी खड़ा हो गया और कुछ दूर जाकर अदृश्य !

मामाजी अपने बहिन-बहनोईके ध्यानमें विह्वल वहीं पड़े रहे । वाणी रुद्ध और नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह जारी था । दूसरे दिन दिनकर-

करों और दक्षिणानिलके स्पर्शसे उनकी चेतना जाग्रत् होने लगी और दशा सँभलने लगी। उधर ही एक संत आ निकले। उन्होंने देखा कि एक सुन्दर-सुगौर कुमार बेतरह पड़ा हुआ है। निकट जाकर उसे ध्यानसे देखा और हाल पूछा। यद्यपि उसने ठिकानेसे कुछ बताया नहीं तथापि महात्मा रहस्य ताड़ गये। निकट ही उनकी गुफा थी। प्रयागदत्तको वहीं ले गये। उचित उपचार किया। स्नान-जलपान कराया। जब वे सावधान हुए तब फिर एक बार उन्होंने उनका हाल पूछा। पूछते ही फिर वे रो पड़े। महात्माजी भी आर्द्र हो गये। कुछ देरतक यही दशा रही—

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥

अनन्तर प्रकृतिस्थ होनेपर प्रयागदत्तजीने स्वयं महात्माजीसे अपना सब वृत्तान्त कहा। महात्माजीने गद्गद होकर उन्हें छातीसे लगा लिया।

मेरे प्यारे का यह भी प्यारा है। मेरी आँखोंका भी सितारा है॥

घड़ी रात गये कुछ ग्रामीण माताएँ आयीं और दो भोग-थाल निवेदन करती हुई बोलीं—'आज हमारे यहाँ भगवान्‌की पूजा और कथा हुई है। यह प्रसाद आपलोगोंके लिये लायी हैं। ले लीजिये, थाल सबेरे चले जायँगे। हमें घर जल्द पहुँचना है। रात हो गयी है।' थाल रखकर यह कहती हुई वे तुरंत उलटे पैर लौट गयीं। थाल न जाने किस खानके अद्भुत सोनेके थे। उनपर पुरैनके पत्ते बिछे थे, जिनपर नाना प्रकारके व्यञ्जन चुने थे। महात्माजी और मामाजी· मन्त्रमुग्धकी तरह देखते रह गये। पीछे जब महात्माजीने

पत्ते टालकर थाल देखे, तब हैरान रह गये । रहस्य समझ गये । जगज्जननी बहिनने भाईकी पहुनाई की !

सहृदय महात्माजीने प्रयागदत्तजीको प्रेमसे खिलाया और स्वयं भी पाया । उन लोकोत्तर रसास्वादमय दिव्य भोगोंका सेवन करके वे दोनों महात्मा मस्त हो गये । वे सब पदार्थ भगवद्रस (ब्रह्मानन्द) से सने हुए थे, स्थूलताका हरण करनेवाले थे और चेतनताका सञ्चार करनेवाले । तत्काल नवीन तेज, नवीन बल और नवीन चेतनता-से शरीर चमक उठे । मामा प्रयागदत्तजीका सारा श्रम और ग्लानि क्षणभरमें कपूरकी तरह उड़ गयी । हृदय-कमल आनन्दरस-सरोवरमें लहराने लगा ।

प्रातःकाल प्रयागदत्तजीको विदा करते हुए महात्माजी वे दोनों स्वर्ण-थाल साफीमें लपेटकर उन्हें देने लगे; क्योंकि उनका कोई लेनेवाला न आया और न आनेवाला था । परन्तु प्रयागदत्तजी-ने नहीं लिया, बोले कि 'माता रिसायगी, कहेगी कि बहिनकी चीज क्यों लाये ? वह कन्याकी वस्तु कैसे लेगी ?' अस्तु, बाबाजी उनके साथ गये और रास्तेपर पहुँचाकर जब लौटे, तब थाल ले जाकर गणेशकुण्डमें डाल दिये--

रमा बिलास राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥

बहिन-बहनोईकी भावनामें मस्त प्रयागदत्तजी घर पहुँचे । माताने पूछा । सब हाल कह सुनाया । पुत्रका वृत्तान्त सुनकर माता चकित रही और बहुत प्रसन्न हुई । हृदयके तलसे एक प्रबल परन्तु गम्भीर करुण-स्रोत फूट निकला और आँखोंमें छलछला उठा ।

साल बीतने भी नहीं पाया कि जगन्माताका अंश वह माता पतिलोकको प्रयाग कर गयी । प्रयागदत्तजी अकेले रह गये । घरमें और कोई भी नहीं । माताके देव-पितृ-कर्मके बाद अकेला पाकर वैराग्य और अनुराग, दोनों उन्हें पूर्णतया अधिकृत करने लगे । इधर पासहीके एक ग्रामके पण्डितजी उन्हें अपना जामातृ बनानेके लिये घेरने लगे । सुसम्पन्न और प्रतिष्ठित ब्राह्मण थे । चाहते थे कि प्रयागदत्तको जमाई बनाकर अपने घर रक्खें और अपना उत्तराधिकारी बनायें । उनके भी एकमात्र कन्या रह गयी थी । पुत्र स्वर्गगामी हो चुके थे । यद्यपि प्रयागदत्त दीन और दरिद्र थे, पर रूप, शील और कुलसे सम्पन्न थे । उनके पूर्व-पुरुषोंमें अनेक यशस्वी विद्वान् हुए हैं । उनके पिता भी सात्त्विक गुणोंसे मण्डित एक प्रतिष्ठित पण्डित थे । जनताकी उनमें बड़ी श्रद्धा थी । बहुत लोग उनके शिष्य थे । अच्छी सम्पत्ति सञ्चित थी । परन्तु काल-चक्रने पलटा खाया । उनके जीवनके अन्तके साथ ही उनकी सम्पत्तिका भी अन्त हो गया । अग्निदेवने दैवात् सर्वस्व स्वाहा कर दिया—जो कुछ घरमें था, घरसहित जल गया । माता केवल उस अपूर्व धन-रत्न शिशु प्रयागदत्तको दोनों करोंसे समेटकर और अपने अङ्कमें भरपूर भरकर बचा सकी थी । उस समय भाग निकलना ही उसका परम भागधेय था । लोगोंने कहा कि 'लड़का अभागा है, कुलच्छन है । पिताका भी भक्षण किया और धन-सम्पत्तिका भी ।' पर उसका भाग्य-भानु किस अलौकिक आकाशमें चमकनेवाला है, यह किसीको क्या मालूम ! यद्यपि असमयमें पिताके परलोकगत होनेसे प्रयागदत्तजी लौकिकी-वैदिकी

विद्याओंके अधिकारी नहीं हो सके; परन्तु सब विद्याओंकी चरमा चेतना ब्रह्मविद्याका मधुर फल तो उन्हें प्राप्त ही हो गया। और साक्षर भी हो ही गये थे। यद्यपि पढ़नेमें उनका मन नहीं लगता था तथापि कुशाग्रबुद्धि होनेसे अल्प कालहीमें उन्होंने सारस्वत, अमरकोश और मुहूर्तचिन्तामणि भी पढ़ ही ली। फिर तो दूसरा ही रंग चढ़ गया। अस्तु, कन्यादानेच्छु पण्डितजीको प्रयागदत्तजीने कोरा जवाब दे दिया। उनके प्रस्तावसे वे घबरा भी उठे और झट अयोध्याको चल पड़े। चाहे वैसे दो दिन बाद ही जाते लेकिन अब वे कहाँ रुकते हैं!

श्रीअयोध्याके पथपर पैर रखते ही प्रयागदत्तजीकी दशा ही निराली हो गयी। ऐसी उतावली हुई कि कैसे वे जल्द-से-जल्द वहाँ पहुँच जायँ।

मानसनन्दिनी (सरयूजी) में स्नान करके परापुरी आनन्दिनी (श्रीअयोध्या) की पावन भूमिकामें प्रयागदत्तजीने प्रवेश किया। उषादेवीने आरती की। दक्षिणानिलने फूल बरसाये। पहले वे मणिकूटके उसी स्थलविशेषपर सीधे पहुँचे, जहाँ उनके बहिन-बहनोई मिले थे। कुछ देर वहाँ बैठे। पर उनके मिलनेकी ऐसी धुन उन्हें सवार थी कि विश्राम करनेके लिये भी अवकाश नहीं था। कुञ्जों और झाड़ियोंमें चारों ओर उन्हें ढूँढ़ते फिरे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पूर्वपरिचित बाबाजी श्रीत्रिलोचन स्वामीकी ओर निकल गये। महात्माजीने इन्हें पहचाना और प्रेमपूर्वक स्वागत किया। विश्राम कराया। इनकी विह्वलता शान्त करनेके लिये उन्होंने अनेक

भगवद्रहस्यकी बातें कहीं, पर उससे वह और भी तीव्र हो गयी। वियोगमें प्रियके चर्चाचारका यही परिणाम होता है।

धीरे-धीरे स्वामीजीने अपने अपूर्व सत्सङ्गके प्रभावसे उन्हें शान्त और सावधान किया। फिर कुछ भोजन कराया।

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रयागदत्तजी श्रीत्रिलोचन स्वामीजीके चरणोंमें लोट गये। स्वामीजीने उन्हें वात्सल्यपूर्वक उठाकर बैठाया। महात्माजीमें उनकी श्रद्धा आकर्षित हो चुकी थी—जो प्रिय पथका सहायक होता है वह स्वभावतः श्रद्धेय तथा प्रेय हो जाता है। स्वामीजीसे उन्होंने वैराग्यदीक्षाके लिये प्रार्थना की। सद्गुरुने उमड़ती हुई श्रद्धाके उसी मुहूर्तको उपयुक्त समझा और दीक्षा दे दी। लँगोटी-अँचला प्रदान किया। प्रयागदत्तजी अब प्रयागदास-जी हो गये। राजकुमार राजवेषमें राजसिंहासनपर बैठ गया। हीरा खरादा जाकर स्वर्णाभूषणमें जटित हो गया। सिद्ध गुरु और सिद्ध शिष्य। मन्त्रराजकी कलाओंसे हृदयकमलकी पंखड़ियाँ खेलने लगीं। रहस्य खिल गया। चक्र सञ्चालित हो गये, ज्योति जगमगा उठी—जैसे शक्तिकेन्द्र (Power House)से यकायक बिजलीकी सब बत्तियाँ जल उठती हैं।

कुछ रात गये प्रयागदासजीकी दशा कुछ ऐसी चढ़ी कि वे सोते ही उठ पड़े और वन-बीहड़ोंमें जहाँ-तहाँ घूमने लगे। फिर तो यही रंग-ढंग रहा। जिधर निकल गये उधर ही निकल गये। खड़े हैं तो खड़े ही हैं, चल रहे हैं तो चल ही रहे हैं—न जाने कहाँ जा रहे हैं! न जाने क्या-क्या देखते हैं! न जाने किससे

क्या कहते हैं! दिन-दिन और रात-रात इसी दशामें बीत रही हैं। न खानेकी सुध, न पीनेकी चिन्ता, न सोनेकी परवा। अखण्ड योगनिद्रा और दिव्य स्वप्न। जाग्रत्‌की भूमिका और तुरीयके दृश्य। देह अपने रास्ते और देही अपने। किसीने खिला दिया तो खा लिया और पिला दिया तो (पानी) पी लिया। कोई-कोई प्रेमी उन्हें अपने हाथसे भी खिला दिया करते थे और इसमें वे बड़े सुखका अनुभव करते थे। परमहंस प्रयागदासजी भी बच्चोंकी तरह चुपचाप खा-पी लिया करते। लड़के उन्हें छेड़ा भी करते और न जाने किसने सिखला दिया था कि सब उन्हें 'मामा-मामा' कहने लग गये। केश बिखरे हैं, शरीरपर धूल पड़ी है और आँखें चढ़ी हुई हैं। लक्ष्मीजीके बन्धु होनेसे आकाशमें चन्द्रमा ही लड़कोंके मामा थे; अब भूनन्दिनीके भ्राता होनेसे ये दूसरे मामा भूतलपर भी हो गये। उनके प्रेमोन्मादके लक्ष्यसे यदि हम उन्हें भारतीय मजनू कहें तो कोई अनौचित्य न होगा। भाई मजनू यदि लैलाके आशिक थे तो प्रयागदासजी अवध-छैलाके। दशा एक थी, दिशा भिन्न। एकके प्रेमका आलम्बन प्राकृत था, तो दूसरेका दिव्य। दोनोंकी तन्मयता और एकाग्रता इतनी बढ़-चढ़ गयी थी कि देह और बुद्धि तथा अहङ्कारको भी पार करके वृत्ति केवल अपने ध्येय और प्रेममें ही स्थित थी। जैसे सर्वदेव-नमस्कार श्रीहरिके प्रति जाता है, वैसे ही सबका सत्य प्रेम भी परतः रूपसे भगवान्‌हीको पहुँचता है। हृदयदेशवासी वह परम प्रियतम ही प्रेमदेव है। किसीके प्रति भी किया हुआ सत्य एवं शुद्ध प्रेमको वही ग्रहण करता है और तत्तद्भावनानुसार फल देता है।

प्रेमका कुछ तत्त्व ही ऐसा दिव्य है कि वह जिस हृदयमें विकसित होगा, उसे दिव्य ही बना देगा और दिव्य नायक पुरुषोत्तमकी ओर भी कभी-न-कभी खींच ही ले जायगा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। प्रेमी हृदयको भगवान् स्वयं खींच लेते हैं, चाहे वह कहीं हो। वे उसके बड़े गाँहक हैं। ऐसे रत्नोंका वे बड़े चावसे संग्रह करते हैं। क्रीडाशील राजकुमार ही ठहरे! अस्तु, परमहंस प्रयागदासजी-जैसे प्रेम-पागल लोकके कौतूहलके विषय बनते ही हैं और लड़के भी मनचले तथा कौतुकप्रिय होते ही हैं। अतः जब कभी वे आबादीकी ओर निकलते थे, तब बालक वृन्द 'मामा-मामा' कहते पीछे पड़ जाते थे। परमहंस मामा तो पूरे परमहंस ही थे, मत्त गजेन्द्रकी तरह झूमते हुए घूमते रहते थे।

क्यों उसे कोई छेड़ता है, उसका वह दीवाना है।
ढूँढ़ता फिरता उसे, अन्दाज[1] सब शैदानां[2] है॥
है परीशाँ जाँफ़िशाँ[3] आवारा-सा नाकारा-सा,
बेताब-सा बेख्वाब-सा बेआब-सा बेदाना[4] है।
इश्क़का मारा हुआ वह हो गया सौदाई[5] है,
रोता कभी, गाता कभी है और कभी खन्दाना[5] है।
है खुदी[6] अपनी मिटा दी, हस्ती[7] अपनी दी है खो,
उस जमाले-बेमिसाले-[8]शमा[9]का परवाना[10] है।
जाँनिसारी[11] उसकी, उसकी दिल-फ़िगारी[12] देख लो,
हो रहे हैं चश्म[13] चश्मये-अश्क[14] दिल दर्दाना है॥

१–ढंग। २–आसक्त प्रेमियोंका-सा। ३–विह्वलप्राण। ४–उन्मत्त, पागल। ५–हँसता-सा। ६–अहंकार। ७–अस्तित्व। ८–अनुपमेय सौन्दर्यशील। ९–दीपक। १०–पतङ्ग। ११–प्राणोत्सर्ग। १२–हृदय-विदीर्णता। १३–नेत्र। १४–अश्रुस्रोत।

हो रहा है मह्व[1] कैसा वह तसव्वुरे-यारमें[2],
क्या खबर कब शाम होती, कब सहर[3] नूरानी[4] है।
प्यारेका प्यारा, सितारा आँखोंका उसकी वह है,
मत कोई उसको कहे कुछ, अपना वह एगानी[5] ॥
कहनेकी आदत-सी है कुछ, गरचे कह आता नहीं,
तर्ज़-खयाले 'बिन्दु' भी कुछ कुदरती[6] शोरानी[7] है ॥

उनकी नशीली-रसीली आँखोंमें एक विलक्षण चमत्कार था। वह असलियतका लक्षण था। सब कुछ कोई कर ले, परन्तु वे आँखें कहाँसे लायेगा? किसी कविने कहा है—

सौवर्णानि सरोजानि निर्मातुं सन्ति शिल्पिनः।
तत्र सौरभनिर्माणे चतुरश्चतुराननः ॥

चाहे कोई शिल्पी सोनेका कमल बना ले, परन्तु उसमें सौरभ वह कहाँसे लायेगा? उसकी सम्पादन-क्रियामें तो विधाता ही कुशल है। श्रीमन्मानसकार महाराज कहते हैं—

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहिं खानिक॥

उनकी आँखें वैसी ही थीं। बिना सिद्ध-सद्गुरु-कृपाके ये कहाँ प्राप्त हो सकती हैं! इस सृष्टिके अन्तरमें, जो कोई अद्भुत रचना है, जिसमें उस क्रीडाशील नित्य नवल नायककी चित्र-विचित्र

१–तन्मय, सुध-विभोर। २–प्रिय (सखा) के ध्यानमें। ३–प्रभात। ४–ज्योतिर्मय। ५–आत्मीय, सगा। ६–नैसर्गिक। ७–कविजनोचित।

दिव्य लीलाएँ हुआ करती हैं, जिनके प्रभावसे इस जगत्में हमें रमणीयताका आभास होता है,* प्रयागदासजीकी आँखें उन्हें देखती रहती थीं। इसलिये कहते हैं कि उनकी आँखें अनोखी थीं, किसी अपार्थिव रेडियमकी बनी हुई थीं। वैसी आँखें कहाँ होती हैं—

दिलवाले हैं हर चन्द जिगरवाले हैं।
यह सच है, निगाहोंमें असरवाले हैं॥
जो देखनेकी चीज़ थी, देखी न गई।
यों कहनेको हमलोग नज़रवाले हैं॥

परमहंस प्रयागदासजी सूक्ष्मरूपसे उसी निराली दुनियाँमें विचरते रहते थे और स्थूलरूपसे स्थूल जगत्में।

रमते रहते हैं सदा देखते लीला उसकी।
कल कहीं, आज कहीं, प्रात कहीं, रात कहीं॥

जहाँ-तहाँ उन्हें लीला-विहारीकी अनेक लीलाएँ दिखायी दिया करती थीं। कहीं कोई दृश्य खिचा हुआ है, कहीं कोई।

---

* रमन बसंत रमनीयता प्रिया समेत,
केलि कल कलनि को कियो सुप्रसार है।
चेतन आनन्द बन रस ही रसाल जहँ,
भावन सुमन बिकसितहू उदार है॥
धनुधर धीर रघुबीर 'बिंदु' मनसिज,
सीय रति जामें नित करत बिहार है।
जाकी छाया माया माहिं भाँति भाँति प्रतिभाति,
रमति रमावतिहुँ होय रागाकार है॥

कभी-कभी किसी चरितके लक्ष्यसे वे कुछ बक भी दिया करते थे। वह वाणी उनकी लोग दुहराया करते। एक बार उन्हें कहीं वन-यात्राकी लीला दृष्टिगोचर हुई। फिर तो वे अपने बहनोईजीसे नाराज हो गये और यह बकते फिरे—'देखो, अपने आप गया और मेरी सुकुमारी बहिनको भी वन-बीहड़में लेता गया!'

अब वे पैसे बटोरने लगे। यदि कोई पैसा देता, तो अब वे ले लेते और रखते जाते। कुछ दिनोंमें जब काफी पैसे जमा हो गये, तब उन्होंने उनसे तीन जोड़े जूते बनवाये—जितने बढ़िया वे बनवा सकते थे। और तीन सुन्दर सुकोमल तोशक और इतने ही पलंग। तीनों पलंग ऐसे, एकसे छोटा एक बनवाया कि एकके पेटमें एक अँट सके। एकके ऊपर एक करके क्रमशः तीनों पलंग रख लिये। ऊपरवाले पलंगपर तीनों तोशक बिछाये और तीनों जोड़े जूते रक्खे। उन्हें सिरपर रखकर वे ले चले। मस्तोंकी तो लीला ही निराली होती है, क्रीडाशीलके प्रेमी ही तो ठहरे! उनसे घटकर क्यों हों! अस्तु, मामाजी पहुँचे जाकर चित्रकूट। जहाँ-जहाँ रास्तेमें कुशा-कण्टक मिले, वहाँ-वहाँ वे बहनोईको कोसते गये। स्फटिकशिलाके परम रम्य प्रदेशमें वे जाकर ठहरे। तीनों पर्यङ्क सुसज्जित कर दिये। फूल भी तोड़-तोड़कर बिछा दिये। तीनों पर्यङ्कोंके तले तीनों जोड़े जूते भी रख दिये। कुछ देर इधर-उधर देखते रहे। फिर झाड़ियोंमें घुस-घुसकर खोजने लगे। कहीं भी कुछ आहट मिलती, कुछ खड़खड़ाहट होती, तो उधर ही वे उत्सुकतासे देखने लग जाते। आँखोंमें अश्रु और उभरे हुए रोम-कूपोंमें स्वेद-बिन्दु भरे हुए हैं। विश्रामकी सुध नहीं,

रानकी बाट शोध रहे हैं। जब इधर-उधर कहीं पता नहीं चला, तब यह बकते हुए मन्दाकिनीकी ओर लौटने लगे—'देखो, छिप गया न, जान गया कि प्रयागदास आ गया। अच्छा, छिपो........।' यहाँ आकर देखा कि तीनों पर्यङ्कोंपर तापस-वेषमें त्रिमूर्ति श्रीराम-लक्ष्मण और श्रीजनकनन्दिनी विराजमान हैं। फिर तो आनन्दका समुद्र ही उमड़ पड़ा। विह्वलतापूर्वक बोल उठे—तुम लोग कहाँ थे, कब आये? मैं तो तुम्हें खोजता फिरा।' फिर दौड़कर सबके चरणोंमें जूते पहनाये। रामजीसे बोले—'अजी, इस जंगलमें तुम क्यों चले आये? और मेरी सुकुमारी बहिनको भी लेते आये! इस वन-बीहड़में तुमलोग कैसे रहते हो?'

माताने कहा—'भैया! मैं स्वयं चली आयी हूँ, ये तो नहीं लाते थे।'

प्रयागदासजी बोले—'अच्छा, तो हम भी तुम्हारे साथ-साथ रहेंगे और पलंग ले चला करेंगे।'

भक्तभावन भगवान्‌ने कहा—'भाई! हमारी वन-यात्राका ऐसा नियम है कि हम तीन ही साथ रहते हैं। चौथे किसीको साथ नहीं रखते। हम पलंगपर भी नहीं बैठते। यह तो तुम्हारी रुचि रखनेके लिये अभी बैठ गये हैं। अब तुम इन्हें ले जाओ और अपनी सेवामें रक्खो। इससे हमें अपने उपभोगसे अधिक सन्तोष होगा।'

माता बोली—'भैया! तुम तनिक भी चिन्ता न करो। हम बड़े सुखसे वनमें रहते हैं। सब वनवासी हमारी सेवा करते रहते

हैं। कोई कष्ट नहीं होने पाता ! मुझे तो वन बहुत सुहावन लगता है। हमलोग फिर मिलेंगे।'

क्या करते ! फिर उसी तरह सिरपर वे ही खाट और उसके सब ठाट रक्खे चले। एक दिन बेचारे विश्राम भी नहीं करने पाये, उलटे पाँव लौटना पड़ा। लक्ष्मणजी ऐसा सुन्दर अवसर भला क्यों चूकने लगे। उन्होंने साले साहबसे कहा—'प्रयागदासजी! हम भी बैठ लें! हमें भी ले चलोगे?' 'प्रयागदासजी बड़े प्रसन्न हुए। बोल उठे—हाँ-हाँ, चलो सब लोग चलो।' सरकारने कहा—'प्रयागदासजी ! तुम जाओ। ये ऐसे ही कहते हैं।' बेचारे रह गये। बड़बड़ाते हुए चले। अपना रिश्ता उलटकर गाली देते हुए बकने लगे—'देखो, चलना-बलना कुछ नहीं, मुझसे ठट्ठा करता है। किसीने कुछ नहीं किया। ये सब आप ही वनमें आये हैं, सोनेका महल काटता है, वन बीहड़ अच्छा लगता है। बहिन तो भोली-भाली है, साथ-साथ चली आयी। जो वह कहता है, वही करती है। जंगलमें हरे-भरे पेड़-पल्लव और पंछी-हिरन देखती है, बस जानती है, वन बड़ा सुहावन। जब देखेगी बाघ तब न जानेगी! देखो न काँटों-कुशोंमें उसे लिये फिरता है। बड़े नेमी बने हैं, पलंगपर नहीं बैठेंगे! मुझे भी साथ नहीं लिया। जान गया कि इसके साथ रहनेसे इसकी बहिन सचेत हो जायगी। अयोध्या लौटनेको कहेगी। है बड़ा चतुर·······वह छोटा भी बड़ा खोटा है, कहकर नहीं चला।' इत्यादि बकते-झकते प्रयागदासजी जाने लगे। कौतुकप्रिय कृपालु भगवान् प्रिया-अनुज समेत मुसकराते रहे!

मन्दाकिनी-स्नान करके जैसे प्रयागदासजी अपना बोझ उठाकर चले, वैसे ही वे श्रीअयोध्याजी पहुँच गये। उन्हें उस समय तो यही मालूम हुआ कि वे पैदल चलकर ही आये हैं, पर पीछे जब (अनुभवसे) जान गये, तब कहने लगे—'देखो, रहने भी नहीं दिया और उठाकर फेंक दिया।' कई दिनोंतक यही बकते रहे। फिर दूसरा दृश्य खींचा और उसकी भावनामें विभोर हो गये। दिन-रात उनका यही हाल था।

श्रीअयोध्याजीमें चित्रकूटजीसे आकर एक नीमके पेड़तले उन्होंने अपना आसन जमाया। जैसा भगवान्ने कहा था, उन्होंने ठीक वैसा ही किया। खाट बिछायी, उसपर तोशक, उसपर आपरूप आप। अपनी एक वाणीमें उन्होंने इसका वर्णन भी किया है—

नीमके नीचे खाट बिछी है, खाटके नीचे करवा।
प्रागदास अलमस्ता सोवे, राम-ललाको सरवा॥

वह प्रसिद्ध पद्य भी इन्हींका है जिसका अन्तिम चरण यह है—

प्रागदास प्रहलदवा कारन रघवा ह्वै गयो बघवा।

इसी तरहकी उनकी मस्तानी अटपटी वाणियाँ होती थीं। प्राचीन अयोध्यावासी सज्जन कभी-कभी कहा करते थे और उनके विचित्र चारु चरित्रोंकी चर्चा किया करते थे।

परमहंस मामा प्रयागदासजीको हुए चार-पाँच पीढ़ियाँ हुई हैं। लगभग डेढ़ या पौने दो सौ वर्ष हुए होंगे।

भक्त शङ्कर पण्डित

गण्डकीके पवित्र तटपर एक गाँवमें भारद्वाजगोत्रीय भक्त शङ्कर पण्डितका घर था। घरमें श्रीशालग्रामजीकी पूजा थी। बड़े तड़के उठकर भक्त शङ्करजी स्नान-सन्ध्यासे निवृत्त हो ठाकुरजीकी पूजामें बैठते। विधिवत् पूजा करके भगवान्का ध्यान करते हुए एक पहरतक एकासनसे बैठे हुए षडक्षर (ॐ रामाय नमः) मन्त्रका जाप करते। फिर तर्पण करते और बलिवैश्व करके घरसे बाहर निकलते। गाँवके बाहर एक पुराने पीपलके पेड़के नीचे शिवालय था। शङ्करजी सीधे वहाँ जाकर शिवजीका पूजन करते। शङ्करजी अनन्य रामभक्त थे परन्तु शिव और राममें वे भेद नहीं मानते थे, बल्कि शिवपूजाके बिना उनकी रामपूजा अपूर्ण ही रह जाती थी। फिर घर लौटकर भोजन करते और ठीक समयपर पाठशाला पहुँच जाते।

गाँवमें संस्कृतकी वही एक पाठशाला थी। गाँवके ठाकुर जगपाल बड़े धार्मिक थे, उन्होंने ही इस पाठशालाकी स्थापना की थी। दस विद्यार्थियोंके भोजनका प्रबन्ध था। पंद्रह दिनका सीधा प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमाको ठाकुरके घरसे आ जाता। जगपालजीके मरनेके बाद उनके लड़के कुशलपाल गाँवके ठाकुर हुए। ये स्वभावसे अश्रद्धालु थे। विलासी भी थे। परन्तु पिताकी स्थापित की हुई पाठशालाको उठानेकी इनकी हिम्मत नहीं होती थी। छोटे भाइयोंका, गाँवके लोगोंका और खास करके बूढ़ी माताका डर

था। जगपालजीके जमानेमें शङ्कर शर्माका जो आदर था, वह तो अब नहीं रहा, परन्तु उनके काममें कोई दखल भी नहीं देता था। सात रुपये मासिक और रोज एक सीधा उन्हें मिल जाता था। सदाके नियमानुसार शामको सन्ध्या करनेके समयसे एक घंटा पहले शङ्करजी पाठशालासे चल देते। और गाँवके बाहर तालाबपर जाकर शौच-स्नान-संध्या और शिवपूजन करते। रात पड़े घर लौटते। उनके सारे काम घड़ीके काँटेकी तरह नियमित होते।

भक्त शङ्करजी बड़े ही विश्वासी, सदाचारी, सात्त्विक प्रकृतिके सन्तोषी ब्राह्मण थे। वे झूठ बोलना और दम्भ करना नहीं जानते थे। खुशामद करनेकी कलुषित कलासे भी सर्वथा अनभिज्ञ थे। सरल और स्पष्टभाषी थे। नियमित कार्य और भगवान्‌का भजन यही उनका दिनभरका काम था। पत्नी रमाबाई भी बड़ी साध्वी थी। एक पुत्र था जो गाँवसे दूर एक शहरमें पण्डिताईका काम करता था, वह भी बड़ा साधुस्वभाव था।

माता जीवित रही तबतक तो कुछ सङ्कोच था। उसके मरने-पर कुशलपालने स्वतन्त्र होकर विलासितामें अपने हिस्सेका सब धन फूँक डाला। अब उसकी गीध-दृष्टि भाइयोंके धनपर पड़ी। वह तरह-तरहके उपाय सोचने लगा। कुशलपालके तीनों छोटे भाई शङ्कर पण्डितपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। शङ्कर पण्डित विना काम कभी किसीके घर नहीं जाते थे, परन्तु पिताके द्वारा विशेष-रूपसे आदर पाये हुए शङ्करपर उन लोगोंको बड़ा विश्वास था। इसका एक कारण यह भी था कि जगपाल मरते समय कह गये थे

कि शङ्कर पण्डित-जैसे महात्मा अपने गाँवमें और कोई नहीं हैं। इनकी भक्ति करना और इन्हें मुझसे बढ़कर समझना। कुशलपाल-को छोड़कर शेष तीनों भाई पिताके इन वचनोंको भूले नहीं थे।

कुशलपालने एक जाल सोचा। उसने पिताके नामसे एक झूठा दस्तावेज बनाया और बड़ी खूबीसे उसपर जगपालके हस्ताक्षर भी बना लिये। पिताके हस्ताक्षरोंकी उसने ऐसी निपुणतासे नकल की कि देखनेवालोंमें किसीको भी यह सन्देह नहीं हो सकता था कि यह हस्ताक्षर जगपालका नहीं है। उस दस्तावेजमें पंद्रह लाखके सोनेमें तीन हिस्से कुशलपालको दिये गये थे और एक हिस्सेमें छोटे तीनों लड़कोंके लिये तीन भाग करनेकी बात थी। जगपालको सूर्यकी उपासना करनेसे एक नींवमें पंद्रह लाखका सोना मिला था। उसमेंसे दस लाख रुपयेसे सूर्यभगवान्‌का एक सुन्दर मन्दिर बनानेका उनका विचार था और पाँच लाख रुपये अपने घरके काममें लेनेका। परन्तु इस मनोरथके पूरा होनेके पूर्व ही उनका देहान्त हो गया। पंद्रह लाखका सोना यों ही पड़ा रह गया। इन बातोंका शङ्कर पण्डितको पूरा पता था। चारों लड़के भी इसको जानते थे और कुशलपालको छोड़कर जगपालके शेष तीनों लड़के चाहते भी थे कि मन्दिर जल्दी बन जाय, परन्तु कुशलपाल टालता जाता था। एक दिन जब भाइयोंने बहुत जोर दिया तब कुशलपालने कहा, 'भाई! सच्ची बात तो यह है कि पिताजीका मरते समय विचार बदल गया था। उन्होंने मन्दिर बनवानेकी इच्छा छोड़कर सारा सोना मुझे देना चाहा था, परन्तु जब मैंने नहीं लिया और कहा कि या तो मन्दिर ही बने या मेरे

भाइयोंको बराबर हिस्सा मिले—तब उन्होंने एक दस्तावेज मुझको लिख दिया था, वह मेरे पास है !' बड़े भाईकी इस बातको सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भाईके स्वभावको जानते थे, इसलिये उन्हें पूरा विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने दस्तावेज देखना चाहा। उसने लाकर दिखला दिया। तीनों भाइयोंने आश्चर्यचकित नेत्रोंसे उसे पढ़ा और पिताजीके हस्ताक्षर देखकर कहा कि पिताजी जो कुछ कर गये हैं उसमें हमलोगोंको कुछ भी कहना नहीं है। उनके हस्ताक्षर भी हम पहचानते हैं; परन्तु हमसे भी अधिक उनके पास रहनेवाले और उनके हस्ताक्षरोंको पहचाननेवाले हैं शङ्कर पण्डित। वे कह देंगे कि ये हस्ताक्षर पिताजीके हैं तो हम इस बातको मान लेंगे।

भगवान्‌की इच्छा कुछ और ही थी। कुशलपालके मुँहसे निकल गया 'शङ्कर पण्डितके सामने ही तो दस्तावेजपर पिताजीने हस्ताक्षर किये थे, वे कहेंगे क्यों नहीं ?' 'हाँ, हाँ, तब फिर बात ही क्या है, उसी समय दस्तावेजके अनुसार आप अपने हिस्सेका सोना ले लीजियेगा।'—तीनों भाइयोंने कहा।

कुशलपालके मुँहसे बात निकल तो गयी, परन्तु अब उसे बड़ी चिन्ता लगी। उसने सोचा, ब्राह्मण बड़ा जिद्दी और निर्लोभी है। उसने न कहा तो मेरी बात भी जायगी और आगे बढ़नेपर सोना भी शायद मुझे न मिले।' चोरके चित्तमें तो डर रहा ही करता है। कुशलपाल एक बार काँप गया। फिर विचार किया, है कौन-सी बात ! सोनेकी मारसे देवताओंके दिमाग भी दुरुस्त हो जाते हैं, फिर इस मामूली ब्राह्मणकी तो बात ही क्या है। 'पूर्व

जाती देखिके बुध आधी ही लेय'—जहाँ पूरी रोटी जाती हो, वहाँ बुद्धिमान् आधी ही ले लेते हैं। ब्राह्मणके सामने सोनेका ढेर लगा दूँगा फिर देखूँगा, कैसे वह 'नहीं' कहता है। इसपर भी नहीं मानेगा, तो मेरे शरीरका बल तो कहीं चला नहीं गया है। बच्चूको ऐसा मोहनभोग खिलाऊँगा कि वह तो क्या उसके पुरखे मेरे मनकी करने लगेंगे। इस कुविचारसे कुशलपालको एक बार साहस हो आया। उसने कहा, 'अच्छी बात है, कल पण्डितजीको बुलाकर पूछ लेंगे।'

कुशलपाल घर लौट आया पर उसे चैन कहाँ? वह कुछ खा-पीकर शङ्कर पण्डितके घर गया और बड़ी नम्रतासे दण्डवत् करके उनके चरणोंमें बैठकर कहने लगा—'पण्डितजी! आज एक कामसे आपको कष्ट देने आया हूँ। आप तो मेरे लिये पिताजीके तुल्य हैं। आपको कष्ट न देता, परन्तु काम ऐसा ही था, इसीलिये निवेदन करनेको आना पड़ा। आपको मालूम होगा, पिताजीको पंद्रह लाखका सोना मिला था'—

'हाँ, हाँ, मालूम क्यों नहीं है, उसमेंसे दस लाखसे तो वे मन्दिर बनानेवाले थे। उनका स्वर्गवास हो गया तो क्या है, आपलोग हैं ही, मन्दिर बनवा दीजिये! मैं अच्छी साइत देख दूँगा।'—शङ्कर पण्डितने बीचमें ही बात काटकर कहा।

कुशलपाल बोला—'मन्दिरकी बात तो सही है, पहले ऐसी ही बात थी; परन्तु पीछे पिताजीका विचार पलट गया था। मेरे मने करते-करते उन्होंने यह दस्तावेज लिख दिया था, इसे आप पढ़िये।' यों कहकर कुशलपालने दस्तावेज पण्डितजीके सामने डाल दिया।

पण्डितजीने तिरछी नजरसे कुशलपालके चेहरेकी ओर देखकर दस्तावेज उठा लिया और बड़े गौरसे पढ़कर बोले—'कुशलपालजी ! हस्ताक्षर तो उनके-से ही हैं; परन्तु निश्चय ही यह दस्तावेज जाली है । किसी धूर्तने उनके हस्ताक्षर बना लिये हैं ।'

'शिव ! शिव ! पण्डितजी ! आप यह क्या कह गये ! वह धूर्त तो फिर मैं ही हुआ । क्योंकि दस्तावेज लिखा हुआ है मेरे हाथका और है भी मेरे ही पास तथा सौभाग्य या दुर्भाग्यवश इसमें धनका अधिक हिस्सा भी मुझको ही दिया गया है ।'

'आप ही होंगे ! मुझे तो कुछ पता नहीं । अन्तर्यामी सब जानते हैं ।'

'तब तो वह आप ही अन्तर्यामी हो गये । मैंने समझा था पण्डितजी ठीकसे बातें करेंगे, सचाईका आदर करेंगे, पर आप तो मुझको ही जालसाज बताने लगे ।'

'मैंने तो आपको जालसाज नहीं कहा, परन्तु आपका पाप अपने-आप ही आपके मुँहसे बोल रहा है । ठाकुर साहेब ! परमात्मा-का डर रखिये । धन साथ नहीं जायगा । मनुष्य मोहवश धनमें सुखकी कल्पना कर उसके लिये अन्याय और असत्यका आश्रय लेता है, अन्तमें धन यहीं-का-यहीं रह जाता है । जैसे आपके पिता सब यहीं छोड़ गये, वैसे ही आप भी सब छोड़कर मर जायँगे । एक कौड़ी भी आपके साथ नहीं जायगी । जीवनभर जलेंगे और मरनेपर अनन्त नरकोंकी आगमें जलना पड़ेगा । फिर क्यों थोड़े जीनेके लिये इतना बड़ा पाप पल्ले बाँधते हैं ?'

'पण्डितजी! यह तो आप ठीक ही कहते हैं, पिताजी मर गये, मुझको भी मरना है। इस बातको मैं भी समझता हूँ। पर आप मुझको झूठा समझते हैं, यह आपकी भूल है। सचमुच ही पिताजी दस्तावेज करके मुझको तीन हिस्सेका सोना दे गये हैं। आप नाराज न हों तो मेरी एक सुनिये। आप यदि एक बातमें मेरी सहायता करें तो मैं भी आपकी सेवासे नहीं चूकूँगा। मैं ऐसा कृतघ्न नहीं हूँ जो आपके गुणोंको भूल जाऊँ। सोनेका आधा हिस्सा आपका होगा। फिर आप उससे भगवान्‌की यथेष्ट सेवा कीजिये और अपने बाल-बच्चोंको सदाके लिये सुखी बना दीजिये।'

'ठाकुर साहेब! अब आप सीमासे बाहर जा रहे हैं। मुझे सोनेका लोभ दिखाकर अपने पापमें शामिल करना चाहते हैं। (कुछ उत्तेजित होकर) क्या तुम मुझसे यह कहलाना चाहते हो कि तुम्हारा दस्तावेज सच्चा है? यह हर्गिज नहीं होगा। मुझे धन प्यारा नहीं है, धर्म प्यारा है। मेरे ठाकुरजी चोरीके धनकी सेवा स्वीकार नहीं करते। बाल-बच्चोंको सुख उनकी गाढ़ी कमाईके पैसेसे होगा, पापके सोनेसे नहीं। इससे तो बुद्धि बिगड़ेगी जो न मालूम कितने भयानक दुःखोंका कारण बनेगी! मुझे यह सोना नहीं चाहिये। अब फिर ऐसी बात मुँहसे मत निकालना, नहीं तो परिणाम बहुत बुरा होगा।'

'जमाना ही बुरा है, होम करते हाथ जलता है। भिखारी ब्राह्मणका अभिमान तो देखो, सोनेसे मानो इनको बड़ी घृणा है! मुझे परिणामका डर दिखाते हैं!'—कुशलपालने झल्लाकर कहा।

'कुशलपाल! मैं भिखारी हूँ, पर तुम्हारी तरह बेईमान नहीं हूँ। मेरे घरमें सोना नहीं है, पर मैंने सोनेके लिये ईमान कभी नहीं

खोया । मैं फिर भी कहता हूँ तुम कुछ तो भगवान्‌से डरो । भैया ! बहुत हो गया । अब अपने घर जाओ और इस पापमय विचारको छोड़ दो !'

'शङ्कर पण्डित ! अब मैं समझ गया, सीधी अँगुलीसे घी नहीं निकलेगा । पिताजीने तुम्हें बहुत सिर चढ़ा दिया था, उसीका यह नतीजा है । खैर, मैं तो जाता हूँ; परन्तु याद रखना, मेरा नाम कुशलपाल है ।'

'भाई ! इतना गर्व क्यों करते हो ? मेरा तुम क्या बिगाड़ोगे ? तुम्हारा क्रोध तुम्हारे ही लिये घातक होगा । भगवानके राज्यमें अन्याय नहीं हो सकता, सब अपना-अपना कर्मफल भोगते हैं । मैं यदि निरपराध हूँ तो तुम मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकते । मेरे 'कोसलपाल' भगवान् श्रीरघुनाथजीके सामने तुम-जैसे क्षुद्र कुशलपाल किस गिनतीमें हैं ? मेरा विश्वास है वे नित्य मेरी सहायता करते हैं, सदा मेरे साथ रहते हैं । वे मुझे अवश्य बचायेंगे । यदि मेरे किसी पूर्वकर्म-का भोग तुम्हारे हाथ भोगा जायगा तो उसमें भी मेरा मङ्गल ही होगा !'

'अच्छा देखा जायगा ! मैं जाता हूँ ।'

'जाओ, भाई ! ईश्वर तुम्हारा भला करे, तुम्हें सुबुद्धि दे ।'

'मैं तुम्हारे ईश्वरसे भलाई और सुबुद्धिकी आशा नहीं रखता । अपनी भलाई मैं आप ही अपनी बुद्धिसे कर सकता हूँ । तुम्हारे-जैसों-के आशीर्वादकी मुझे आवश्यकता नहीं है । तुम अपने ही लिये अपने भगवान्‌से प्रार्थना करो ।' इतना कहकर निराश होकर कुशलपाल वहाँसे चला गया । उसके मनमें शङ्कर पण्डितसे बदला लेनेकी आग जल उठी । पापसे पाप पैदा होता है । उसने घर जाते

ही एक तेज छूरा जेबमें डाल लिया और शङ्करको मारनेकी घातमें फिरने लगा। प्रतिहिंसाके पापने उसकी बुद्धिका नाश करके उसको पागल-सा बना दिया।

सन्ध्याका समय है। चारों ओर अँधेरा छाया है। कृष्णपक्षकी चतुर्थीका दिन है। सुनसान जंगलका रास्ता है। इधर-उधर सियार हुँआँ-हुँआँ कर रहे हैं। दूरसे कुत्तोंका भोंकना सुनायी देता है। शङ्कर पण्डित सदाकी तरह भगवान्के पवित्र नामोंका गान करते हुए निश्चिन्त मनसे शिवजीके मन्दिरसे घरको लौट रहे हैं। अचानक कुशलपालने उनका हाथ पकड़ लिया और छूरा छातीमें भोंककर वह भाग चला। शङ्कर पण्डितके हृदयसे खून बहने लगा और वे 'हा राम! हा रघुवर!' कहते हुए बेहोश होकर गिर पड़े!

दूसरे ही क्षण उन्होंने देखा, वे किसी बड़े ही सुरम्य दिव्य बगीचेमें हैं, पास ही सुन्दर जलका विशाल सरोवर है, जिसके चारों ओर नाना प्रकारके विचित्र और सुगन्धित पुष्प खिल रहे हैं। अनेकों दिव्य पक्षी अपनी सुन्दर स्वर्गीय भाषामें गा रहे हैं। चारों ओर अनोखा प्रकाश छाया है। विशाल पीपलका एक सुहावना वृक्ष है। उसीके पास एक मनोहर सिंहासनपर भगवान् श्रीराम जनकनन्दिनी श्रीसीताजीसहित अपने दिव्य वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित विराजमान हैं। श्रीभगवान्की मनोहर छवि देखते ही बनती है। श्रीलक्ष्मण और भरत चँवर डुला रहे हैं। शत्रुघ्न हाथमें जलकी झारी लिये खड़े हैं। हनुमान्जी भगवान्के चरण दबा रहे हैं। सामने दोनों ओर भक्तोंकी और संतोंकी सुन्दर पंक्तियाँ हैं, सभी बड़े सुन्दर स्वरोंमें भगवान् श्रीरघुनाथजीका स्तवन कर रहे हैं। शङ्कर पण्डित इस मनोहर और

दुर्लभ दृश्यको देखकर कृतकृत्य हो गये। उनके हृदयका घाव तो कभी छूमन्तर हो गया था। वे कभी भगवान्‌के चरणोंकी ओर निहारते और कभी मनोहर मुखचन्द्रकी झाँकी करते। स्तवन समाप्त होनेपर शङ्कर पण्डित प्रेमविह्वल और आनन्दमग्न होकर भगवान्‌के चरणोंमें लोट गये। वे उस समय जिस परमानन्दके समुद्रमें निमग्न हो रहे थे, उसका वर्णन वाणीसे नहीं हो सकता। भगवान्‌का इशारा पाकर हनूमान्‌जीने उन्हें उठाया, वे उठते ही मारुतिकी छातीसे चिपट गये। उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बह रही थी, शरीर पुलकित था। आनन्द हृदयमें समा नहीं रहा था। भगवान्‌ने कहा, 'भक्त शङ्कर! मैं तुम्हारी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारे-जैसे दम्भ-हीन, सरलहृदय, निर्लोभी और बिना किसी दिखावेके चुपचाप मेरी निष्काम सेवा करनेवाले सच्चे विरक्त भक्त मुझे परम प्यारे हैं। जाओ, मेरा चिन्तन करते हुए अभी कुछ समयतक पृथ्वीपर रहकर जगत्‌का कल्याण करते रहो। शीघ्र ही तुम मेरे धाममें आकर धन्य होओगे।'

शङ्कर पण्डित भगवान्‌की मधुर वाणी सुनकर निहाल हो गये, परन्तु भगवान्‌को छोड़नेकी बात उनके मन नहीं रुची। पर प्रेम-मुग्धताके कारण वाणी बंद थी, वे कुछ भी बोल नहीं सके। हाँ, आँखोंके गरम-गरम आँसू अवश्य ही यह बतला रहे थे कि वे भगवान्‌के चरणोंको छोड़ना नहीं चाहते!

भगवान्‌ने फिर कहा, 'तुम चिन्ता न करो, मेरा आदेश मानकर जगत्‌का कल्याण करो।' भगवान्‌के इतना कहते ही वह सारा दृश्य आँखोंके सामनेसे हट गया। शङ्कर पण्डितने अपनेको उसी सुनसान जंगलमें पड़े पाया, परंतु वे अब होशमें थे और उनका

घाव बिल्कुल अच्छा हो चुका था। भगवान्‌की दयापर मुग्ध हुए शङ्कर पण्डित उठे और उस महान् दुर्लभ दृश्यका मधुर स्मरण करते हुए घरकी ओर चले। थोड़ी ही दूर चले थे कि उन्होंने कुशलपालको जमीनपर पड़े देखा, उसके मुँहसे खून बह रहा था। चाँदके उजियालेमें उसकी यह दुर्दशा देखकर शङ्कर पण्डितके मनमें बहुत दुःख हुआ। शङ्करने उसको उठाया और पासके कुएँसे जल लाकर उसका खून धोया और धीरे-धीरे उसे होश कराया। कुशलपाल शङ्कर पण्डितको देखकर एक बार तो डरा, परन्तु पीछे वह आनन्दमें भर गया। वह चरणोंमें गिर पड़ा और बोला 'पण्डित-जी! मैं बड़ा ही नीच अभागा हूँ, जीवनभर मैंने पाप किये, सब धन फूँक दिया; अन्तमें धनके अभावमें मेरी नीच मति हो गयी, मैंने झूठ दस्तावेज बनाया, लोभवश उसपर पिताजीके जाली हस्ताक्षर बनाये और फिर भाइयोंसे कहा कि पण्डितजीके सामने ही पिताजी-ने हस्ताक्षर किये थे। मेरे साधुस्वभावके तीनों भाइयोंने इसपर विश्वास करके कहा कि पण्डितजी कह देंगे तो हम आपको तीन हिस्सेका सोना दे देंगे। मैं इसी उद्देश्यसे आपके पास गया था और लोभ दिखाकर डरा-धमकाकर आपसे झूठी गवाही दिलवाना चाहता था। परन्तु आप शुद्धान्तःकरण होनेसे मेरी जालसाजी पहलेसे ही जान गये। आपने दया करके मुझको समझाया, परन्तु मैं पापबुद्धि उल्टा आपपर क्रोधित होकर चला गया। फिर तो मैंने जो नीच कर्म किया, वह आप जानते ही हैं। मैं आपको छूरा मारकर भागा। तुरंत ही मुझे ऐसा दिखायी दिया, मेरे पीछे दो बड़े भयङ्कर पुरुष आ रहे हैं; मैं डर गया। उन्होंने मुझे पकड़ लिया और कहा 'नराधम! तुझको हम अभी मार डालते और सीधे नरकोंमें पहुँचाते, परन्तु क्षमाशील शङ्कर पण्डित बड़े ही भक्त हैं, वे हृदयसे तेरा कल्याण

चाहते हैं, तू उनके आशीर्वादसे सुरक्षित है । हमलोग उनके विपरीत कुछ कर नहीं सकते, इसीलिये तुझे थोड़ा-सा ही दण्ड देकर छोड़ देते हैं । खबरदार ! अब तू द्वेष और लोभको छोड़कर पवित्र हो जा ! नहीं तो आगे बड़ी दुर्दशा होगी ।' इतना कहकर उनमेंसे एकने बड़े जोरसे मेरे सिरमें एक घूँसा जमा दिया । उस समय मुझे जो भयानक पीड़ा हुई उसे मैं ही जानता हूँ । परन्तु उन्होंने ऐसा करके मुझपर बड़ी ही कृपा की । उस मारसे मेरा मन शुद्ध हो गया । मैं अपने कियेपर पश्चात्ताप करने लगा । मुझे अपने भाइयोंसे बेईमानी करनेका सूर्यमन्दिरका धन हड़पनेकी इच्छा करनेका तो दुःख था ही; सबसे बड़ा दुःख मुझे आपको मारनेका था । मैंने समझा था कि आपके प्राण बचे नहीं हैं । मै इसी अनुतापकी आगसे जलता-जलता उस घोर पीड़ाको सहता रहा । पिताजीके समय लड़कपनमें सुनी हुई एक कथा मुझे याद आ गयी ; एक बार भगवान्‌ने अपने पार्षदोंसे कहा कि—

'जो मेरी पूजा करता है परन्तु मेरे भक्तका अपराध करता है वह मानो मेरे पैरोंको पूजता हुआ मेरे गलेपर छुरी चलाता है । ऐसे पुजारीको घोर नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है ।* इसके बाद ही

---

* इसी आशयका सूरदासजीका एक पद है—

श्रीपति दुखित भगत अपराधें ।
संतन द्वेष द्रोहिता करके आरति सहित जो मोहि अराधें ॥
सुनो सकल बैकुंठ निवासी, साँची कहौं जिन मानो खेदें ।
तिनपर कृपा करूँ मैं केहि बिधि, पूजत पाँव, कंठको छेदें ॥
जन सों बैर प्रीति मोसों करि मेरो नाम निरंतर लैहैं ।
सूरदास भगवंत बदत यों, मोहिं भजें पर जमपुर जैहैं ॥

मेरे मुँहसे खून बहने लगा और मैं बेहोश हो गया। बेहोशीमें मैंने जो-जो भयानक दृश्य देखे, लोभी, दम्भी, दुराचारी, हिंसक और भक्तद्वेषियोंकी जैसी-जैसी भयानक दुर्दशाएँ देखीं तथा स्वयं भी जो घोर यन्त्रणाएँ सहीं, उनको याद करके अब भी मेरा कलेजा काँप रहा है। परन्तु यह सब देखकर और सहकर मैं पवित्र हो गया। मैं अब आपकी कृपासे होशमें हूँ और मेरी सारी पीड़ा मिट गयी है। आपकी कृपासे भगवान्‌का यह परम अनुग्रह मुझे प्राप्त हुआ। अभी आपको स्वस्थ देखकर तो मेरे हृदयमें आनन्द समा नहीं रहा है; बतलाइये, आपके प्राण कैसे बचे ?'

कुशलपालकी करुण कहानी सुनकर शङ्कर पण्डित आनन्दमग्न हो गये। भगवान्‌की दया देखकर उनका हृदय कृतज्ञतासे भर गया। उन्होंने सोचा, भगवान् कब किसपर किस तरह दया करते हैं, यह कोई नहीं जान सकता। इस बेचारे कुशलपालकी दुर्बुद्धिको दयामय भगवान्‌ने क्षणोंमें ही कैसे हर लिया। दुःखकी बात तो इतनी ही है कि मेरे कारण इसको इतनी पीड़ा सहनी पड़ी। यों सोचते हुए शङ्कर पण्डितने कहा—'भाई कुशलपाल ! मेरे अपराधको क्षमा करना, मेरे कारण तुम्हें बड़ी साँसत सहनी पड़ी। अब तुम्हारा हृदय पवित्र हो गया, यह भगवान्‌ने तुमपर बड़ी कृपा की। मैं तो तुम्हारा बड़ा ही उपकार मानता हूँ। तुम मुझे छूरेसे नहीं मारते तो मैंने जो भगवान्‌की झाँकीका अपार आनन्द प्राप्त किया है, वह नहीं प्राप्त कर सकता। तुम ही मुझे भगवान्‌के धामका दर्शन करानेमें प्रधान कारण हो। मैं तुम्हारे इस उपकारका बदला कैसे चुकाऊँ ?' इतना कहकर शङ्कर पण्डित गद्गद होकर रोने लगे!

कुशलपाल पुनः चरणोंमें गिर पड़ा और उनकी चरण-धूलिको मस्तक-पर चढ़ाकर बोला—'भगवन् ! आप धन्य हैं, मैं ऐसे हृदयवान् पुरुषके चरणोंमें पड़ा हूँ, इसलिये मैं भी आज धन्य हो गया। पर आप मुझ पामरसे क्षमा चाहते हैं और मेरा उपकार मानते हैं, यह आपकी तो परम साधुता है, परन्तु मैं नीच इन शब्दोंको सुन रहा हूँ। यह मेरी कितनी अधमता है। पृथ्वी भी नहीं फट जाती कि मैं उसमें समा जाता। मुझपर वज्रपात क्यों नहीं हो जाता। भगवन् ! मैं महापापी नीच नारकी जीव हूँ। आप कृपाकर मुझे अपनाइये, अपना सच्चा शिष्य बनाइये।' यों कहकर कुशलपाल बड़े जोर-जोर-से पुकार-पुकारकर रोने लगा। सच्चे पश्चात्ताप, भगवत्कृपा और संतकी शुभ भावनासे उसका अन्तःकरण परम शुद्ध हो गया !

शङ्कर पण्डितने उसे उठाकर हृदयसे लगा लिया और सच्चा अधिकारी जानकर उसे भगवान् रामका षडक्षर (ॐ रामाय नमः) मन्त्र देकर कृतार्थ किया। कहना नहीं होगा कि उसी क्षणसे कुशलपालका जीवन ही पलट गया ! उसने सारा धन भाइयोंको दे दिया। अपने उससे कुछ भी सम्पर्क नहीं रक्खा। भाइयोंने पिता-जीके इच्छानुसार दस लाखके सोनेसे मन्दिर बनवा दिया और शेष पाँच लाख भी धर्मकार्यमें लगा दिये। कुशलपालका जीवन भजनमय हो गया और अन्तमें शङ्कर पण्डितसहित वह भगवान्के परमधाम साकेत लोकमें पहुँचकर कृतार्थ हो गया।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

भक्त प्रतापराय

भगवान्‌के सच्चे विश्वासी भक्त प्रेमपूर्वक निरन्तर भजन करते हैं; परन्तु भजनके बदलेमें कुछ भी चाहते नहीं। संसारके सुख-दुःखोंकी तो उन्हें परवा ही नहीं होती, स्वर्गसुखको भी वे तुच्छ समझते हैं। यहाँतक कि मोक्ष और साक्षात् भगवत्प्राप्तिका लोभ भी उन्हें भजनसे नहीं डिगा सकता। वे भजन करते हैं; क्यों करते हैं? इसका उनके पास जवाब नहीं होता; परन्तु यह निश्चित है कि भजन किये बिना उनसे क्षणभर भी रहा नहीं जाता। उनके लिये भजनका त्याग उतना ही असाध्य है, जितना जीवनके लिये प्राणों-का। वस्तुतः यह उदाहरण भी भक्तके द्वारा होनेवाले भजनकी तुलना नहीं कर सकता। यह तो समझनेके लिये एक संकेतमात्र है। जो लोग सांसारिक भोग-सुखोंकी प्राप्तिमें भजनका सुफल होना समझते हैं और इसीमें भगवत्कृपा मानते हैं, और सांसारिक विपत्तियों तथा कष्टोंमें भगवान्‌को भूल जाते हैं, कोसते हैं, उनकी अकृपा मानते हैं और कहीं-कहीं तो भगवान्‌की दया और उनके अस्तित्वतकपर सन्देह करने लगते हैं, वे वस्तुतः बड़े ही दयनीय हैं। ऐसे लोग भजनके प्रेमी भक्त नहीं हैं, ये तो लेन-देन करनेवाले व्यापारी—उनमें भी अविश्वासीमात्र हैं। हमारे भक्तराज श्रीप्रतापराय-जी उपर्युक्त प्रकारके एक महान् विश्वासी भक्त थे। युवावस्थाके कुछ कालको छोड़कर इनके जीवनका मध्यकाल सांसारिक दृष्टिसे दुःख-सागरमें ही डूबते-उतराते बीता, परन्तु ये सदा ही अपने आनन्दमें मग्न रहे। किसी भी दुःखकी ताकत नहीं हुई कि वह इनके दिलपर कुछ भी असर डाल सके।

भक्त प्रतापरायजी क्षत्रिय थे। इनके पूर्वज बहुत समयसे बंगालमें जा बसे थे। इनकी भाषा, वेश तथा चाल-चलनमें काफी बंगालीपन आ गया था; परन्तु खान-पान शुद्ध था। श्रीगोपालजीकी भक्ति तो इनकी मानो बपौती थी। चारों ओर आमिषभोजी शक्ति-उपासकोंसे घिरे रहनेपर भी इनके परिवारमें वैष्णवताका मानो अखण्ड एकछत्र साम्राज्य था। पश्चिम बंगालके हरसोला नामक गाँवमें ये रहते थे। इनके पिताका नाम भानुराय और माताका नाम कुसुमी था। दोनों बड़े ही धार्मिक और भक्त थे। इनके पास जमीन थी और उसमें काफी अनाज होता था। पशुधन भी पर्याप्त था। कुछ महाजनीका काम करते थे। उचित ब्याजपर आस-पासके गाँववालोंको रुपये दिया करते थे। अपनी स्थितिमें ये मस्त थे। घरकी आवश्यकताके अनुसार इनको किसी बातकी कमी नहीं थी। प्रतापराय इस भाग्यवान् दम्पतिके एकमात्र लाड़िले पुत्र थे। माता-पिता ही सन्तानके सबसे पहले गुरु होते हैं। बच्चोंका दुलार तो अवश्य ही करना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये, जिससे उनमें बुरी आदत पड़े और आगे चलकर उसका बुरा फल उन्हें भोगना पड़े। प्रतापरायके माता-पिता इस विषयमें बड़े सावधान थे। दो बहिनोंके बीचमें प्रताप एक ही लड़के थे। माता-पिताके हृदयके परम धन थे, परन्तु उन्होंने उनमें एक भी बुरी आदत न पड़ने दी। माता-पिताकी शिक्षाके प्रभावसे वे सबेरे उठते, भगवान्का स्मरण करते, माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम करते, नहा-धोकर तुलसीका पौधा सींचते, घरमें ठाकुरजीके दर्शन करते, कुछ जाप करते, तब सबेरेका ब्यालू करते। सबसे मीठा और विनयके

साथ बोलते, हठ नहीं करते, माता-पिताके सामने कभी नहीं बोलते। प्रताप जैसे देखनेमें सुन्दर थे वैसे ही बल्कि उससे कहीं अधिक हृदयसे और बर्तावमें सुन्दर थे। उनसे जो एक बार बात कर लेता, वही मुग्ध हो जाता। माता-पिताने प्रतापमें कष्ट सहनेकी भी आदत डाली थी। धूप-वर्षा सहना, जाड़ेमें बिना कपड़ेके रह जाना, हाथसे सब काम कर लेना, बहिनोंसे ईर्ष्या न करना, कपड़े-गहनेके लिये कभी न ललचाना, बहुत सादे और मोटे कपड़े पहननेमें आनन्द मानना, जीभके स्वाद और शरीरकी सजावटसे घृणा करना, शौकीनी बिल्कुल न जानना और किसी भी कामके करनेमें न लजाना उनके खास गुण थे। वे कोई भी चीज अकेले न खाते, पहले अपनी बहिनोंको देते, तब खाते। बहिनें भी उनसे बहुत प्यार करतीं। इस प्रकार प्रतापरायका लड़कपन माता-पिताकी देख-रेखमें बहुत ही आनन्दसे बीता।

प्रतापरायकी बड़ी बहिनका नाम लक्ष्मी था और छोटीका माधवी। लक्ष्मीका विवाह तो पहले ही कर दिया गया था। प्रतापरायका विवाह तेरह सालकी उम्रमें और माधवीका ग्यारह सालकी उम्रमें कर दिया गया। दोनोंके विवाह पाँच-सात दिनोंके अन्तरसे एक ही साथ हुए। प्रतापरायके विवाहके बाद दस सालतक भानुराय जीवित रहे। इस बीचमें घरका सब काम प्रतापराय करने लगे। प्रतापरायके एक पुत्र भी हो गया। प्रतापराय जब तेईस वर्षके हुए तब पिता भानुरायका देहान्त हो गया। पिताकी मृत्युसे यद्यपि प्रतापरायके सिरका छत्र ही टूट

गया, परन्तु उनकी विलक्षण विषयविरक्ति तथा भक्तिनिष्ठाने उनको दुःखी नहीं होने दिया। उन्होंने सोचा—

संसारमें स्थिर क्या है, जो जन्मा उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। संसारके सभी संयोग-वियोगको साथ लिये आते हैं। आत्मा अमर है, कभी मरता नहीं और अनित्य तथा क्षणभङ्गुर शरीर स्थायी रहता नहीं। फिर चिन्ता किस बातकी? पिताजी भगवान्के भक्त थे। भगवान्का नाम-जप करते-करते पिताजीने इतनी आसानीसे शरीर छोड़ दिया मानो अङ्गसे सूखे फूलोंकी माला उतार दी हो। उन्हें कोई कष्ट हुआ ही नहीं। मरनेमें कष्ट तो उनको होता है, जिनका मन भोगोंमें फँसा होता है, जो भगवान्के दयापूर्ण विधानमें विश्वास नहीं करते तथा जो देहको ही आत्मा मानते हैं। पिताजी तो भगवान्के अत्यन्त विश्वासी भक्त थे तथा आत्मनिष्ठ थे, उन्हें मरणक्लेश क्यों होने लगा? वे भगवान्के धाममें पधारे हैं, इससे उन्हें बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ होगा। उनके इस आनन्दसे स्वार्थवश द्वेष करके मैं क्यों अपनी नीचता प्रकट करूँ?'

इस प्रकारके विचारोंसे प्रतापरायने पितृवियोगके महान् दुःखको सहज ही सह लिया। अब घर-परिवारका सारा भार प्रतापरायपर आ पड़ा। वे घरका सब काम करते थे, परन्तु जैसे भोगासक्त विषयी मनुष्यका चित्त निरन्तर निष्कपट भावसे विषयोंमें लगा रहता है, वैसे ही उनका चित्त सदा-सर्वदा श्रीभगवान्के स्वरूपचिन्तनमें लगा रहता था। ये चम्पाके बगीचेमें चञ्चरीककी तरह निर्लिप्त भावसे सब काम करते थे। कुछ समय बाद माता

कुसुमीका देहान्त हो गया। दिन-रात माताकी सेवामें लगे रहने-वाले प्रतापरायने मङ्गलमय भगवान्‌का विधान मानकर मातृवियोगके कष्टको भी सहर्ष सहन कर लिया। अब उनके जीवनमें नित्य नये-नये सङ्कट आने लगे। मानो भगवान् उनकी विशुद्ध भक्तिकी बड़ी कड़ी परीक्षा ले रहे हों। परन्तु जैसे सोना तपाये जानेपर और भी खरा हो जाता है, वैसे ही कष्टोंमें तप-तपकर उनका भक्तिरूपी स्वर्ण अधिकाधिक निर्मल, उज्ज्वल और महान् उच्च श्रेणीका होने लगा।

कुछ वर्षों बाद प्रतापरायके एकमात्र पुत्र दीनबन्धुरायका भी बारह वर्षकी उम्रमें देहान्त हो गया। पुत्रकी मृत्युके समय प्रताप-राय और उनकी पतिव्रता पत्नी मालतीने जिस धैर्य, भगवन्निष्ठा तथा कर्तव्यपरायणताका परिचय दिया, वह सर्वथा स्तुत्य है। दीनबन्धुको सान्निपातिक ज्वर हो गया। माता-पिताने यथासाध्य उसकी चिकित्सा करायी और भलीभाँति सेवा की।

दोनों जने पुत्रकी चारपाईके पास बैठे उसे दिन-रात भगवन्नाम और भगवान्‌की लीला-कथा सुनाते तथा उसके मनमें संसारकी असारता एवं भगवान्‌की ही एकमात्र नित्य-सत्ताका अनुभव करानेकी चेष्टा करते। दिन-रातकी हरिचर्चासे मरणासन्न बालक दीनबन्धुका चित्त जगत्‌से हट गया और वह एकमात्र श्रीभगवान्‌में लग गया। इसी अवस्थामें उसकी मृत्यु हो गयी। यही तो वास्तविक आत्मीयता और सच्ची सेवा है। इकलौता लड़का था, परन्तु भगवद्विश्वासी प्रतापराय तथा मालतीने परस्पर विचार करके यही निश्चित किया कि 'यह सब श्रीभगवान्‌की लीला है। भगवान्‌ने इसे दिया था, इसके द्वारा अपनी

सेवा करानेके लिये, जबतक उनकी इच्छा रही इसके द्वारा सेवा करनेका सौभाग्य उन्होंने हमलोगोंको दिया। अब वे हमें दूसरी सेवामें नियुक्त करना चाहते हैं। इसमें चिन्ताकी कौन-सी बात है ? संसार तो उनकी लीलास्थली है। फिर मृत्यु है भी क्या वस्तु ! यह तो जीवन-नाटकका एक नैसर्गिक पर्दा है जिसके हुए बिना नाटककी शोभा ही नहीं होती। आत्मा मरता नहीं, शरीर रहता नहीं—मिलना-बिछुड़ना, सम्बन्ध होना और टूटना यह सब इस खेलके अङ्ग हैं फिर रोना किस बातका।' इस प्रकार निश्चय करके वे दोनों प्रसन्नताके साथ भगवान्‌के भजनमें लग गये। लोग उनकी इस स्थितिको देखकर चकित रह जाते।

कुछ समय बाद उनकी छोटी बहिन माधवीके पति वल्लभराय रोगशय्यापर पड़ गये। बड़ी बहिन लक्ष्मीको यह विश्वास था कि मेरे भाई प्रतापराय बड़े ही भक्त हैं, वे यदि भगवान्‌से प्रार्थना कर देंगे तो वल्लभकी मृत्यु नहीं होगी। लक्ष्मीने भाईको इसके लिये अनुरोध किया। प्रतापराय निष्काम भक्त थे। वे जानते थे कि भगवान्‌की भक्ति करके बदलेमें कुछ चाहना भक्तिको बेचना है। जो लोग भक्तिके बदलेमें धन, पुत्र, मान, यश, जीवन आदि चाहते हैं, वे वस्तुतः भगवान्‌की तथा उनकी भक्तिकी महत्ता ही नहीं जानते। वे साध्य तो असत्यमें मानते हैं उन पुत्र-धनादि नश्वर वस्तुओंको और भगवान्‌को बनाते हैं उनकी प्राप्तिका साधन। ऐसी भक्ति वास्तवमें भगवान्‌की भक्ति नहीं है। यह तो उन विषयोंकी भक्ति है क्योंकि उनका दर्जा भगवान्‌से भी ऊँचा मान रक्खा है। वे यह भी जानते थे कि शरीर नश्वर है और यहाँके सभी सम्बन्ध आरोपित हैं।

इन आरोपित सम्बन्धवाले अपने तथा अपने आत्मीयोंके शरीरोंके लिये भगवान्से प्रार्थना करना मूर्खतामात्र है; परंतु वे बहिनके अनुरोधको टाल न सके। उन्होंने कहा—'अच्छी बात है, मैं कल भगवान्से प्रार्थना करूँगा।' प्रतापरायकी इस बातसे लक्ष्मीको बहुत आश्वासन मिला।

रातका लगभग तीसरा पहर था, बहनोईके बिस्तरके पास ही प्रतापराय बैठे थे। उन्हें तन्द्रा-सी आ गयी। उन्होंने देखा—कमरा अपूर्व ज्योतिसे जगमगा उठा। भगवान्के दिव्य शरीरधारी चार पार्षद अत्यन्त सुन्दर विमान लेकर खड़े हैं और मुसकराते हुए कह रहे हैं—वल्लभ! तुम बड़े पुण्यशील और भगवद्भक्त हो। पूर्वजन्ममें ही तुम भगवान्के दिव्यधाममें पहुँच गये होते, परन्तु माधवीके साथ तुम वचनबद्ध थे, इसीसे तुम्हें एक जन्म और लेना पड़ा। माधवी भी परम साध्वी है। तुम्हारे देहत्यागके बाद यह भी सती होकर तुम्हारे ही साथ भगवान्के परमधाममें पहुँच जायगी। परन्तु मालूम होता है प्रतापराय इस विधानको पलटना चाहते हैं। वे तुम्हारे जीवनके लिये भगवान्से प्रार्थना करनेवाले हैं। यदि उन्होंने भगवान्से तुम्हारा जीवन माँगा तो भगवान् उनकी प्रार्थना सुन लेंगे और तुम्हारा दिव्यधाम-गमन रुक जायगा। हमलोग तुम्हें लेने आये हैं, परन्तु प्रतापरायकी चित्तवृत्ति देखकर रुके खड़े हैं। 'बोलो, बोलो, तुम क्या कहते हो?' वल्लभकी आत्माने कहा, 'भगवन्! मुझे अभी ले चलिये। अनन्त कालकी साध आज पूरी हो रही है, इसमें क्षणभरका भी विलम्ब क्यों हो? प्रतापरायजी बड़े भक्त हैं, वे भला भगवान्के मङ्गलविधानके विरुद्ध अपनी कोई इच्छा क्यों करेंगे?

जब रुपये वापस देने होते तो आकर अपनी चीज ले जाता और ब्याजसमेत रुपये दे जाता। प्रतापराय इस बातका खयाल अवश्य रखते कि ब्याजके नामपर किसीकी अधिक रकम तो उनके यहाँ नहीं आ गयी है। अधिक होती तो वे लौटा देते। बहुत कम ब्याज लेते। लोगोंको इनके इस व्यवहारसे बड़ी सुविधा थी। इनको भी कोई झंझट नहीं था। सिर्फ खातेमें रुपये नाम जमा करने पड़ते थे। सारा काम विश्वास और ईमानदारीपर चलता था। प्रतापरायके दादाके समयसे इसी प्रकार काम होता आता था।

होनहारकी बात थी। कुछ लोगोंके मनमें बेईमानी पैदा हुई। प्रतापरायसे अकारण डाह रखनेवालोंने भी साथ दिया। उन्होंने षड्यन्त्र रचकर इनके विश्वास और सत्यप्रियतासे अनुचित लाभ उठाना और इन्हें अपमानित करना चाहा। चार षड्यन्त्रकारियोंने समय-समयपर अलग-अलग आकर इनसे रुपये उधार लिये। रुपयोंके बदलेमें एक आदमी एक डिब्बा रख गया, तीन आदमी तीन थैलियाँ रख गये। डिब्बेवालेने कहा, इसमें बेशकीमत गहने हैं और थैलीवालोंने कहा, इसमें सोना-चाँदी है। प्रतापरायने सदाकी भाँति कह दिया—'जो कुछ हो रख दीजिये। जब रुपये देने आवें तो अपना देखकर ले जाइयेगा। वे लोग चले गये। कुछ समय बाद डिब्बेवालेने आकर रुपये देकर कहा—'ये रुपये और ब्याज लीजिये, मैं अपना गहनेका डिब्बा ले जाता हूँ।' प्रतापरायने रुपये लेकर जमा कर लिये और कहा—'ले जाइये।' उसने जाकर डिब्बा निकाला और उसे प्रतापरायके सामने लाकर खोला। खोलते ही बोला—'गजब हो गया, मैंने तो तुमको भला आदमी और ईमानदार

समझ रक्खा था, तुम तो बड़े बेईमान और नीच निकले। मेरा गहना निकालकर बदलेमें कंकड़ भर दिये हैं। वाह! इसीलिये भगवान्‌के भक्त बने फिरते हो और सत्यकी मूर्ति बने रहते हो। पाखण्डी कहींके! लाओ, मेरा गहना दो, नहीं तो वह मजा चखाऊँगा कि कई दिन याद रक्खोगे!' प्रतापराय उसकी बात सुनकर सहम गये और बड़ी शान्तिसे नम्रतापूर्वक बोले, 'भाई! मैंने तो तुम्हारे डिब्बेको छूआतक नहीं। तुम जैसे रख गये थे, वैसे ही पड़ा है।' उसने कहा, 'तब तो मैं ही कंकड़ भरकर रख गया था, तुम तो राजा हरिश्चन्द्र ठहरे; अरे भले आदमी! अब तुम्हारी कलई खुल गयी है, पापका घड़ा आखिर तो फूटता ही। खैर; अब भी चुपके-से मेरा गहना ला दो तो बच सकते हो।' प्रतापरायने गहना लिया ही नहीं था ला कहाँसे देते? इधर वह जान-बूझकर शरारतपर उतरा हुआ था, समझानेसे कैसे मानता! 'जागतेको कोई क्या जगावे।' उसको तो बात बढ़ानी ही थी। वह मनमाना बकने-झकने लगा। प्रताप सिर नीचा किये चुपचाप सब सुन रहे थे। इतनेमें वे तीनों भी आ गये। उन्होंने भी रुपये देकर अपनी-अपनी थैलियाँ निकालीं। थैलियोंमें सोना-चाँदी तो था ही नहीं, उनमें भी कंकड़-पत्थर ही निकले। अब तो एकके चार हो गये। उन्होंने गालियोंकी झड़ी लगा दी। इतनेमें ही षड्यन्त्रकारियोंकी पहलेसे की हुई व्यवस्थाके अनुसार आठ-दस आदमी और भी आ पहुँचे और झूठे ही कहने लगे कि इसने पहले हमलोगोंके साथ भी ऐसा ही दगा किया था। गाँवके सैकड़ों आदमी इकट्ठे हो गये। अब प्रतापरायको कौन सच्चा मानता!

उस समय बंगालमें मुसलमानोंका राज्य था। काजीके पास फर्याद हुई, उसे कुछ लोभ दे दिया गया। न्यायका नाटक रचा गया। प्रतापरायको जेलकी सजा हो गयी और उनके घर-द्वार, खेत-जमीनसहित सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। काजीने तथा षड्यन्त्रकारियोंने आपसमें बटवारा कर लिया। प्रतापरायकी पत्नी मालतीको हाथ पकड़कर घरसे बाहर निकाल दिया गया। इस प्रसङ्गमें प्रतापरायको अपने-पराये सभीके द्वारा अत्यन्त अपमानित होना पड़ा। वे सबकी दृष्टिमें चोर और बेईमान साबित हो गये। विपत्तिकी सीमा हो गयी। साधारण मनुष्य होता तो ऐसी स्थितिमें भगवान्का भजन तो छोड़ ही देता, बल्कि उन्हें कोसता और शायद कहता कि मैंने जीवनभर भजन किया, यदि कहीं कोई भगवान् होता तो क्या इतना अन्याय हो सकता, सो भी मुझ भजन करनेवालेके साथ! क्या भगवान् मुझे बचाता नहीं। द्रौपदी और गजराजकी सभी बातें झूठी हैं। ये सब वहम हैं। भगवान्-वगवान् कुछ भी नहीं हैं। परन्तु प्रतापराय तो बहुत ही ऊँचे भक्त थे। 'सूरदासकी काली कामरि चढ़त न दूजो रंग' की कहावतके अनुसार उनके स्वच्छ निर्मल चित्ताकाशमें जरा भी विकारका बादल नहीं पैदा हुआ। उनकी शान्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही और वे सदाकी भाँति अनवरत भगवान्का नाम-चिन्तन करते रहे। उनकी यह दशा देखकर कोई कहता, 'बड़ा पक्का चोर है, देखो न, इसके चेहरेपर जरा भी उदासी नहीं आयी।' किसीने कहा 'दम्भकी मूर्ति है, अब भी महात्माकी-सी शकल बना रक्खी है। इतना बड़ा पाखण्डी तो हमने आज ही देखा।' कोई बोला, यही तो चोर

मुँह उतनी बातें। चारों ओरसे गालियोंकी तथा व्यंग्यवाक्योंकी बौछार हो रही थी, परन्तु प्रतापराय अपनी भूमिकापर अटल थे। उनके होठोंपर मुसकराहट थी और मुखपर अपार शान्ति !

जेल जाते समय उन्होंने अपनी स्त्रीसे कहा—'मालती ! सावधान, भगवान्‌के मङ्गलमय विधानपर जरा भी मन मैला न करना। न मालूम वे किस-किस स्वाँगमें आते हैं। तुम अपने नैहर भाईके पास चली जाओ। भगवान्‌का विधान होगा तो फिर मिलना होगा।' उनकी इस बातको सुनकर मालतीके नेत्रोंसे आँसूकी बूँदें टपक पड़ीं। वह भाईके घर चली गयी। प्रतापराय जेलकी काल-कोठरीमें निवास करने लगे। उनके भजनमें तथा विश्वासमें जरा भी कमी नहीं हुई।

मालती घरसे निकलते समय अपने ठाकुरजीको तथा उनकी शृङ्गारकी पिटारीको आँचलसे ढककर ले आयी थी। यह बात लोगोंको मालूम हो गयी। इस समय तो बच्चे-बूढ़े सभी इनके विरोधी हो रहे थे। जनताके मतका वास्तवमें कोई मूल्य नहीं होता, वह तो हवाके साथ बदलनेवाला हुआ करता है। गाँवके जो लोग एक ही दिन पहले प्रतापरायको महान् भक्त और सत्यवादी समझते थे, वे ही आज उसे परले सिरेका धूर्त और बेईमान बतलाने लगे। जब आँख बदलती है, तब सब कुछ अपने आप ही बदला हुआ नजर आता है। किसीने जाकर काजीसे शिकायत कर दी। काजी तो तुला बैठा ही था। झट मालतीको पकड़वा मँगाया। ठाकुरजीके गहने छीन लिये गये और जब्त जायदादको चुराकर ले जानेके अपराधमें मालतीको भी जेलखाने भेज दिया गया।

जेलका दारोगा भला आदमी था। उसने मालतीको प्रतापराय-के साथ ही रख दिया। भगवान्‌के विधानसे मालतीका जेलखानेमें पहुँचना मालती और प्रताप दोनोंके लिये सुखकर हो गया। दोनों मिलकर एक-चित्तसे श्रीभगवान्‌का भजन करने लगे। प्रतापरायका भाव बहुत ही प्रशंसनीय था। एक दिन रातके समय प्रतापराय भगवान्‌की स्तुति कर रहे थे। मालती भी चुपचाप चित्तके द्वारा उनके सुर-में-सुर मिला रही थी। प्रतापरायने कहा—'भगवन्! तुमने बड़ा ही अनुग्रह किया जो सब झंझटोंसे छुड़ाकर हमलोगोंके लिये जबरदस्ती एकान्तवासकी सुविधा कर दी। हमलोगोंका तो परम धन तुम्हारा भजन ही है। इस सुविधाके कारण हमें यह परम धन सहूलियतसे प्राप्त हो रहा है। हे नाथ! ऐसी कृपा करो, जिससे तुम्हारे भजनमें हमारी आसक्ति अत्यन्त दृढ़ और पूर्ण हो जाय। यहाँतक कि तुम्हारे मिलनेपर भी तुम्हारा भजन बढ़ता ही रहे। हमें और कुछ नहीं चाहिये। दर्शन भले ही मत दो। हम न तुम्हारे दर्शन-के योग्य हैं, न हमारा अधिकार है और न हमें तुम्हारी इच्छाके विपरीत तुम्हारे दर्शनकी उत्कण्ठा ही है, हम तो हे दयामय! बस, तुम्हारा भजन चाहते हैं। तुम दर्शन दो और कहीं भजन छीन लो तो हमें तुम्हारे ऐसे दर्शनकी भी इच्छा नहीं है। कृपा करो—प्रभो!'

निष्काम भक्तकी वाणी सुनकर और उनके हृदयका भाव समझकर भगवान् बड़े ही प्रसन्न हुए। जेलखानेकी कालकोठरी धन्य हो गयी। भगवान् वहीं प्रकट हो गये। सहस्रों सूर्योंके प्रकाशके समान वहाँ प्रकाश फैल गया। त्रिभंगसे खड़े हुए मुरली-मनोहर श्रीगोपालजीने प्रकट होकर भक्तदम्पतिको गौरवमण्डित कर

दिया। भगवान्‌की मनोहर झाँकीके दर्शनकर प्रतापराय और मालती जगत्‌की और अपनी सारी सुध-बुध भूल गये। उनकी आँखें भ्रमर बनकर भगवान्‌के मुखकमल-मकरन्दका अतृप्त होकर पान करने लगीं। शरीर आनन्दातिरेकसे रोमाञ्चित हो गये। नेत्रोंसे प्रेमके आँसुओंकी धारा बह चली। वाणी रुक गयी। वे दोनों भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े और कोमल चरणारविन्दोंका स्पर्शकर अत्यन्त धन्य हो गये। भगवान्‌ने कहा—'वत्स प्रताप! बेटी मालती! मैं तुमलोगोंकी निष्ठाको देखकर बहुत ही प्रसन्न हूँ। जो लोग सांसारिक सुख और आरामके बदलेमें मेरा भजन बेच देते हैं वे बहुत ही भोले हैं। तुम्हारी बड़ी कठिन परीक्षा हुई, तुमपर बड़े-बड़े संकट आये, परन्तु तुम कभी विचलित नहीं हुए और किसी भी संकटके टल जानेके लिये भी कभी कामना नहीं की। बात यह थी कि मैं तुम्हें विशेषरूपसे अपनाना चाहता था। मैंने इसीसे तुम्हारे पुराने कर्मोंका बचा-खुचा फल आत्मीयोंके वियोग, अपमान, कलङ्क और कारावासके रूपमें भुगताकर तुम्हें कर्ममुक्त कर दिया है। अब तुम सब प्रकारसे मेरेमें प्रवेश करने योग्य बन गये हो। तुम-जैसे ऐसी निष्ठावाले भक्त मुझको बहुत ही प्यारे होते हैं। मेरे दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं। किसी साधना-विशेषसे ये नहीं होते। जो लोग दर्शनके लिये अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और जिनको एक-एक पल युगके समान बीतता है; मेरे दर्शन उन प्रेमी भक्तोंको ही होते हैं। उनसे भी पहले उनको होते हैं, जो दर्शनकी भी परवा नहीं करते। केवल अहैतुक प्रेमसे निरन्तर मेरा अनन्य भावसे भजन करते हैं। मेरे

भजनके प्रतापसे उनको संसारकी कोई भी स्थिति प्रभावित नहीं कर सकती। तुम मेरे ऐसे ही भक्तोंमेंसे हो, इसलिये मुझे बहुत ही प्रिय हो। मालती भी तुम्हें पतिरूपमें प्राप्त करके धन्य हो गयी। अब तुम्हारी जो इच्छा हो सो माँग लो।' प्रतापरायने कहा—'भगवन्! हमारी सारी साध पूरी हो गयी। अब हमें यही दीजिये, जिसमें आपके भजनमें हमारी और भी अधिक आसक्ति हो जाय। भगवान् 'तथास्तु' कहकर मुसकराते हुए तुरंत अन्तर्धान हो गये। प्रतापरायकी अनन्त जन्मोंकी साधना भगवत्कृपासे आज पूरी हो गयी।

इधर कुछ ही दिनोंमें काजीसहित चारों षड्यन्त्रकारियोंके शरीर कोढ़से गलने लग गये। गलित कुष्ठसे उनकी बुरी दशा हो गयी। काजीकी स्त्री बड़ी समझदार थी। उसने पहले ही निरपराध प्रतापरायको सताने और उनके घर-द्वार लूटकर मालतीको अनाथिनी कर देनेका विरोध कर दिया था। एक दिन मौका पाकर उसने पतिसे कहा—'देखिये! आपकी यह बीमारी, मेरी समझसे भगवान्के भक्त प्रतापरायको पीड़ा पहुँचानेका फल है। आप यदि मेरी बात मानें तो उनको जेलसे मुक्त कर दीजिये और उनसे क्षमा-याचना कीजिये।' काजीको पत्नीकी बात जँची। उसने प्रतापराय और मालतीको छोड़ दिया। इधर उन चारों दुष्टोंको भी अपनी भूल समझमें आयी। काजीके साथ उन चारोंने आकर प्रतापरायके चरणोंमें गिरकर अपना अपराध स्वीकार करते हुए क्षमा-प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'आप सर्वथा निर्दोष हैं, हम बड़े ही नीच हैं जो हमने स्वार्थवश आपपर झूठ कलङ्क लगाया और

आपको जेलखाने भेजा। आप हमलोगोंको क्षमा करके भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। जिससे हम इस अत्यन्त दुष्ट रोगसे छूट जायँ। प्रतापरायने कहा—'भाइयो! तुम्हारा इसमें कुछ भी दोष नहीं है, तुम तो निमित्तमात्र थे। यह सब तो हमारे किये हुए कर्मोंका फल था। परन्तु इससे हमें परम लाभ हुआ, हमारी अनन्त जन्मोंकी साध पूरी हुई। हमलोग तुम्हारे इस उपकारके लिये अत्यन्त कृतज्ञ हैं।' इतना कहकर उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए कहा—'भगवन्! इन पाँचों भूले हुए भाइयोंका अपराध क्षमा होना चाहिये। इन्होंने काफी दण्ड भोग लिया है। फिर, इन्होंने हमारा तो उपकार ही किया है। आप यदि कृपा करके इन्हें रोगमुक्त नहीं करेंगे तो हमें बड़ा ही दुःख होगा। हे नाथ! हम आपकी शरण हैं। रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।' इतना कहते ही अचानक उन पाँचोंके शरीर कञ्चन-से हो गये। वे प्रतापरायके चरणोंमें गिर पड़े। अब तो गाँवके सभी लोग—वे सभी लोग जिन्होंने झूठमूठ ही प्रतापरायपर कलङ्क लगानेमें सहायता दी थी, वहाँ आकर प्रतापराय और मालतीके चरण छू-छूकर उनसे बार-बार क्षमा माँगने लगे। काजीने उनकी जब्त की हुई सम्पत्ति लौटा दी। प्रतापरायने सारी सम्पत्ति गरीबोंको बाँट दी और दोनों स्त्री-पुरुष संसार त्यागकर श्रीधाम वृन्दावनको चले गये। तीस साल वहाँ निरन्तर भगवद्भजन किया और फिर भगवान्‌का नाम जपते-जपते चित्तवृत्तियों-को भलीभाँति भगवान्‌में तल्लीन करके दोनों गोलोकको पधार गये।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

भक्त गिरवर

नर्मदाके पुण्यतटपर एक छोटे-से गाँवमें गिरवर नामक एक सदाचारी राजपूत रहते थे। घरमें बूढ़े माता-पिता थे, गौरी नामकी पतिव्रता पत्नी थी और एक छोटा लड़का था। लड़केका नाम था ऊदा। क्षत्रियके वर्णधर्मानुसार आजीविकाका जमाना नहीं था, इससे गिरवरकी गृहस्थीका आधार खेती ही था। भगवान्‌की कृपासे हर साल इतना अनाज पैदा होता कि लगान वगैरह चुकानेके बाद सालभर उसीसे अच्छी तरह सबका जीवननिर्वाह हो जाता। अन्न खरीदनेकी तो जरूरत होती ही नहीं, कपड़े-लत्तेकी आवश्यकता भी सब खेतके अनाजसे मजेमें पूरी हो जाती। गिरवर और गौरी बूढ़े माता-पिताकी सेवा मन लगाकर करते। उनको सदा यही चिन्ता रहती कि बूढ़े माता-पिताकी रुचिके विरुद्ध कहीं कोई काम हमसे न बन जाय। पुत्र और पुत्रवधूकी सेवासे अत्यन्त प्रसन्नचित्त हुए माता-पिता भी उनके सदा अनुकूल रहते और यही चाहते कि हमारे पुत्रवधू प्रसन्न रहें और हम अपनी ऐसी ही रुचि रक्खें कि उन्हें कोई भी कष्ट न हो और वे अपने हृदयसे सदा उन्हें आशीर्वाद देते रहते। गौरी सास-ससुरकी सेवा

तो करती ही, पतिकी सेवामें भी जरा त्रुटि नहीं करती। उसका जीवन ही सेवामय था, उसे सेवाका चाव था। वह यही सोचा करती कि मुझसे सास-ससुर और पतिकी रुचिके अनुसार सेवा बनती ही नहीं। सास-ससुर और पतिका भी गौरीपर बड़ा ही स्नेह और प्रेम था। वे भी सदा उसे सुखी ही देखना चाहते थे। छोटा लड़का ऊदा भी माता-पिताका आज्ञाकारी था।

सबसे बड़ी बात यह थी कि घरमें सभी श्रीभगवान्‌के भक्त थे। सब मिलकर रोज भगवान्‌की पूजा करते और भगवान्‌के सामने कीर्तन करते। गिरवर पढ़े-लिखे ज्यादा नहीं थे, परन्तु विद्याका जो चरम फल 'भगवान्‌में विश्वास' है, वह उन्हें प्राप्त था। वे सदा इसी निश्चयपर रहते थे कि 'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं।'

यद्यपि उनकी यह धारणा सच्ची थी, परन्तु भगवान् तो इसको और भी प्रत्यक्ष करके सबको दिखाना चाहते थे। गाँवके लोगोंमें जब गिरवर ऐसा कहते कि 'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं।' तब उनमेंसे कोई-कोई, सामने नहीं तो पीछेसे, यह कहता कि 'घरमें सारे सुख हैं—खानेको अन्न है, अनुकूल स्त्री है, पुत्र है, मा-बाप हैं तब ऐसा कहनेमें क्या लगता है। दुःखमें ऐसा कहे तब माना जाय कि गिरवर सचमुच ऐसा ही मानते हैं! गिरवरके कर्म-फलभोगका समय आया। भगवान्‌की इच्छा थी, वे गिरवरका गौरव विशेष बढ़ाना चाहते थे। घटनाचक्र बदला। गिरवरके माता-

पिताका देहान्त हो गया । गिरवरको इससे बड़ा दुःख हुआ । दुःख इसलिये नहीं कि माता-पितासे कोई खास सहारा था सो टूट गया, दुःख इस बातसे हुआ कि अब माता-पिताकी सेवाका सौभाग्य नहीं रहा ! सचमुच माता-पिताकी सेवाका सुअवसर बड़े पुण्यसे ही मिलता है । जो लोग जीवित माता-पिताकी सेवा नहीं करते और उनकी अवहेलना करते हैं वे पीछे बहुत पछताया करते हैं, परन्तु वह अवसर तो जीवनमें फिर कभी मिलता ही नहीं !

गिरवरको इस बातसे मनमें बड़ा दुःख हुआ, परन्तु उनके इस निश्चयमें कोई अन्तर नहीं पड़ा कि 'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं ।' लेकिन वे समझ नहीं पाये कि इसमें कल्याण क्या है ? थोड़े ही दिनों बाद आठ वर्षका बच्चा ऊदा एक दिन अपनी माँके साथ नर्मदा नहाने गया था । माँ कपड़े उतार रही थी । ऊदा जलमें घुसा कि एकाएक एक घड़ियाल उसका पैर पकड़कर खींच ले गया । बालक चिल्लाया 'अरे भगवान् ! हे ठाकुरजी ! मुझे बचाओ ।' माँ रो उठी । उसने बहुत शोर मचाया, कोई मेरे बच्चेको बचावे । लोग दौड़े परन्तु घड़ियाल तबतक उसे लेकर गायब हो चुका था । गौरी रोती-पीटती घर पहुँची । गिरवर उस समय भगवान्‌की पूजा कर रहे थे । गौरीने रोते-रोते सब हाल सुनाया । भगवान्‌की पूजा समाप्त करके गिरवर उठे । उनके मुँहसे अभ्यासवश सहसा निकल गया—'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं ।' पीछे जरा सकुचाये भी कि पुत्रशोकसे पीड़िता गौरीको मेरे ये शब्द शायद बुरे लगे होंगे । परन्तु अन्तरात्माने फिर यही कहा कि बात तो सच यही है । भगवान् तो कल्याण ही करते हैं । उन्होंने गौरीसे कहा—

'तुम रोती क्यों हो ? यह भी सोचो कि संसारमें कौन किसका है । यह तो मुसाफिरखाना है । मुसाफिर आते हैं, एक जगह ठहरते हैं, तरह-तरहके सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, फिर अपने-अपने समयपर सब अपनी-अपनी राह चल देते हैं । संसारका यह नाता स्थायी थोड़े ही है । आज जो पुत्र बना है, सम्भव है वही कभी पिता बना होगा और कभी हमारा शत्रु भी बना होगा । सब जीव अपने-अपने कर्मफल-भोगके लिये नाना योनियोंमें जन्म लेते हैं और उस जन्मका भोग समाप्त होनेपर चले जाते हैं, इसमें शोककी कौन-सी बात है ?

'याद करो, उस दिन जो महात्मा आये थे, उन्होंने क्या कहा था । उन्होंने कहा था—यह घर भगवान्‌का बगीचा है और तुम-लोग इसकी सेवा और सम्हाल करनेवाले माली हो । घरमें जो कुछ है सब भगवान्‌का है । अपना कभी न समझना । फिर तुम रो क्यों रही हो ? क्या ऊदा तुम्हारा था ? वह तो भगवान्‌की चीज थी । माली बगीचेमें सुन्दर आमका पेड़ लगाता है, उसे पालता-पोसता है, बड़ा करता है, खूब सेवा करता है । समय आनेपर उसमें आम लगते हैं । आमोंमें एक आम बहुत ही सुन्दर और मधुर है । माली उस समय यही तो चाहता है कि यह सबसे बढ़िया आम बगीचेके स्वामीको मैं अपने हाथों देकर आऊँ । यों तो सभी आम मालिकके हैं, परन्तु इसको तो मैं स्वयं देकर आऊँगा । मालिक प्रसन्न होंगे, यह जानकर कि मालीने कितनी मेहनतसे और लगनसे इतने बढ़िया आमका पेड़ लगाया और उसका बढ़िया-से-बढ़िया फल मुझे लाकर अर्पण कर दिया । प्यारी ! ऊदा तो मालिकके बगीचेका सबसे बढ़िया

फल था, वह तो मालिकके अर्पण करनेके लिये ही था। उसे यदि मालिकने माँगकर ले लिया तो इसमें तुम्हें दुःख क्यों होना चाहिये? तुमने उसे इसीलिये तो पाला-पोसा था। मालिककी चीज मालिकके अर्पण हो गयी, तुम इसमें विषाद क्यों करती हो?

'यह तो तुम जानती ही हो, आत्मा कभी मरता नहीं, वह तो अजर-अमर है। शरीर प्रकृतिसे उत्पन्न पाँच भूतोंसे बना होता है। पाँच भूत कहीं नष्ट हुए ही नहीं हैं। उनका जो एक पुतला बना था, वह टूट गया। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी अपने-अपने स्वरूपमें मिल गये। फिर नष्ट क्या हुआ? वस्तु तो नष्ट हुई नहीं, यहाँ नहीं, और कहीं है। अरी! एक मालिककी कई जगह दूकानें हैं। यदि मालिक एक जगहके रुपये दूसरी जगहकी दूकानमें भिजवा दे तो पहली जगहका मैनेजर इससे शोक क्यों करे? उसे तो मालिककी सेवा करनी है। रुपये कहीं नष्ट तो हुए ही नहीं। वे तो मालिककी दूकानमें ही रहे—यहाँ नहीं, वहाँ सही। तुम सोचो, ऊदाकी आत्मा कहीं नष्ट तो नहीं हो गयी। वह कहीं-न-कहीं भगवान्‌के राज्यमें ही होगी और निश्चय ही होगी भगवान्‌की देख-रेखमें—फिर तुम उदास क्यों होती हो!

'एक बात और है—ऊदा तो भगवान्‌का भक्त था। वह रोज कीर्तन करता था। तुम कहती हो—घड़ियालके द्वारा पकड़े जानेपर भी उसने यही कहकर पुकार मचायी कि 'हे भगवान्! हे ठाकुरजी! मुझे बचाओ।' जिसने अपने जीवनमें सरलभावसे भगवान्‌के नामका कीर्तन किया और मरते समय जिसने भगवान्‌को पुकारा वह तो

भगवान्के परमधाममें ही गया होगा । प्यारी ! ऐसे पुत्रके लिये तुम शोक क्यों करती हो ? सच्ची माता तो वही है जो अपनी सन्तानको परम सुखी बनावे । भगवान्का धाम तो नित्य आनन्दमय है, ऊदा वहीं तो गया है । फिर तुम दुखी क्यों होती हो ?

'फिर यह भी कौन कह सकता है कि वह मर ही गया है । सम्भव है वह बच गया हो और इसी जीवनमें तुम्हें फिर मिल जाय । भगवान्की लीला विचित्र है । किसी भी दृष्टिसे सोचो, शोकका कोई कारण ही नहीं है । विश्वास करो, भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं । तुम शोक छोड़कर भगवान्की कृपापर विश्वास करो और उनके स्मरणमें चित्त लगाओ !'

पतिकी सीख सुननेसे गौरीका हृदय शान्त हो गया । उसने कहा, 'स्वामिन् ! आपका कथन सत्य है । मैं मोहवश रो रही थी । अब मुझे विश्वास हो गया कि भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं । मेरा तो मन अब भी यही कहता है कि ऊदा मरा नहीं है, वह और भी उज्ज्वल रूपमें मुझको जरूर मिलेगा ।'

'मिले या न मिले । हमें क्यों उसके मिलनेकी चाह हो और क्यों न मिलनेका दुःख हो । भगवान् जैसा चाहेंगे वही होगा और उसीमें मङ्गल होगा । मिलेगा तो भगवान्की वस्तु है, हम उसकी सेवा करेंगे । नहीं तो भगवान् जो दूसरी सेवा सौंपेंगे वह करेंगे । अपना काम तो सेवा करना है । जो मालिककी सेवासे जी चुराता है वह नमकहराम है और जो मालिककी सम्पत्तिको अपनी समझता है वह बेईमान है । हमलोगोंको तो सावधानी और ईमान-

दारीके साथ स्वामीकी सेवा करनी है । हमारी आसक्ति सेवामें होनी चाहिये । फिर चाहे सेवाका प्रकार और क्षेत्र कैसा भी क्यों न हो । प्रकार और क्षेत्रका चुनाव स्वामी ही करें । हमें तो बस, सेवाके लिये शक्ति और सुअवसर मिलता रहे ।' गिरवरने गम्भीरतासे ऐसा कहा ।

'धन्य है स्वामी ! आपकी निष्ठाको !' इतना कहकर गौरी चुप हो गयी ।

गिरवर घाटपर गये, उन्होंने अच्छी तरह पता लगाया; परन्तु कहीं ऊदाकी लाश भी नहीं मिली । तब सबने कहा कि 'घड़ियाल ऊदाको खा गया, अब भाई ! शोक छोड़कर भगवान्‌को भजो ।' गिरवरने मन-ही-मन कहा—'भगवान् सब कल्याण ही करते हैं ।'

गिरवर घर लौट आये । अब उन्हें खयाल आया कि पिताजी और माताजी आज जीवित होते तो उन्हें बड़ा कष्ट होता; क्योंकि ऊदा उन्हें बड़ा ही प्यारा था । भगवान्‌ने उन्हें पहलेसे ही अपने धाममें बुलाकर बड़ा कल्याण किया, यह बात अब समझमें आयी !

बूढ़े माता-पिताकी मृत्यु पहले ही हो चुकी थी । पुत्र भी घड़ियालके मुखमें चला गया । अब तो गिरवर और गौरीके सेवाके पात्र एकमात्र श्रीभगवान् ही रह गये । गिरवरने अपना खेत अद्धीमें दूसरोंको दे दिया और वे अपना सारा समय भजनमें ही बिताने लगे । आधी पाँतीमें भी खेतमें हर साल काफी अनाज मिल जाता और उससे गिरवर-गौरीका काम मजेमें चल जाता । ऊपरका खर्च तो कोई रह ही नहीं गया था । न लड़केके विवाह-शादीकी चिन्ता थी । केवल दो प्राणियोंके खानेभरको अन्नकी जरूरत थी । हाँ,

श्रीठाकुरजीकी सेवामें जरूर कुछ खर्च लगता था, परन्तु वह भी खेतके आये अनाजसे अनायास ही चल जाता था। गिरवर सुबह-शाम दोनों समय एक-एक पहर एकान्तमें बैठकर भगवान्का ध्यान करते—दिनमें पुराण सुनते और निरन्तर विष्णुसहस्रनामका पाठ करते रहते। सहस्रनाम उन्हें कण्ठस्थ था। और गौरी तो सुबहसे राततक श्रीभगवान्की सेवामें लगी रहती। अब उसका सारा स्नेह प्रायः सब जगहसे सिमटकर एकमात्र श्रीभगवान्में ही लग गया था। घरमें कोई विशेष काम रह ही नहीं गया था। दोनों पति-पत्नी एक समय भोजन करते। इससे दोनोंको भजनके लिये खूब समय मिलता था। इस प्रकार कई वर्ष बीत गये। उनमें भजनका प्रेम तथा उसीके साथ-साथ आनन्द और शान्ति भी उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। एक दिन गिरवरने गौरीसे कहा—देखो, अब तो तुम्हें अनुभव हो गया न कि 'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं?' ऊदा होता तो क्या हमलोग अपनी सारी ममताको उससे हटाकर कभी भगवान्के भजनमें इस प्रकार लग सकते! ऊदाको हमसे हटाकर भगवान्ने हमपर बड़ी कृपा की जो हमें आठों पहर अपनी चाकरीमें ही लगा दिया। गौरीने कहा, 'बात तो ऐसी ही है। सचमुच भगवान्ने बड़ी कृपा की। परन्तु मुझे बीच-बीचमें ऊदा याद आ जाता है।' गिरवर बोले, 'माताका हृदय ऐसा ही होता है। इसमें कोई नयी बात नहीं है। परन्तु तुम समझदार हो, ऊदाकी यादसे अब कोई लाभ नहीं है। तुम्हें तो एकमात्र श्रीठाकुरजीमें ही मन लगाना चाहिये।' गौरी बोली,

'ठीक है, अब और भी चेष्टा करूँगी। भगवान्‌की कृपा तो अपार है ही, फिर मेरा यह रहा-सहा मोह क्यों न मिटेगा?'

यों साधना करते-करते दोनों पति-पत्नीके तन, मन, धन, प्राण—प्रायः सभी भगवान्‌में लग गये।

श्रीगीताजीके इस श्लोकके अनुसार—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(१०।९)

—उनके चित्त भगवान्‌में लग गये, उनके प्राण भगवान्‌के अर्पण हो गये, वे जब बोलते तब आपसमें केवल भगवान्‌के ही प्रेम-भावकी चर्चा करते, भगवान्‌का ही कीर्तन करते, भगवद्भजनमें ही सन्तुष्ट रहते और केवल श्रीभगवान्‌में ही प्रेम करते।

घटनाचक्र फिर बदला। लगभग दस वर्ष बाद देशमें भयानक अकाल पड़ा। पशु मर गये। सब लोग दाने-दानेको तरसने लगे। गिरवर और गौरीको श्रीठाकुरजीकी पूजामें भी कठिनाई हो गयी। उन्होंने कुछ दिन तो घरमें जो कुछ था, उसे बेचकर काम चलाया; परन्तु आखिर उन्हें घरसे निकलना पड़ा। भगवान्‌की श्रीमूर्तिकी पूजाका भार पुरोहितको सौंपकर और पूजाके खर्चके लिये पुरोहितजीको गौरीकी सोनेकी नथ देकर श्रीभगवान्‌का पावन नाम लेते हुए दोनों स्त्री-पुरुष गाँवसे चल पड़े। रातको दोनों एक पेड़के नीचे लेटे। भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। वे कब किस रूपमें कृपा करते हैं, कुछ कहा नहीं जाता। एक

जहरीला साँप निकला और गौरीके पैरको डस गया। गौरी चौंक उठी, उसने जोरसे पुकारा, 'भगवन्! तुमने बड़ी दया की। साँपके रूपमें मुझे स्पर्श करने आये! मैं धन्य हो गयी।' गिरवर जाग उठे। देखा, महाकाला विषधर सर्प चला जा रहा है। गौरी विषसे छटपटा रही है, परन्तु उसके मुखसे 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' की ध्वनि निकल रही थी। गिरवरने भी उसी ध्वनिके साथ अपनी ध्वनि मिला दी। विष चढ़नेके साथ ही गौरीकी कीर्तन-ध्वनि कुछ मन्द पड़ने लगी। अन्तिम श्वासतक गौरीके मुखसे भगवान्का नाम निकला। श्वास बंद हो गया। चाँदनी रातमें गिरवरने देखा—गौरीके मुखपर विलक्षण तेज छाया है और वह मानो मुसकरा रही है। गिरवरके मुखसे निकला 'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं।' रातभर गौरीके पास बैठे गिरवर भगवान्का कीर्तन करते रहे।

सवेरा हुआ। गिरवरकी यह बात सुनी हुई थी कि साँप काटनेसे मरे हुएको जलाना नहीं चाहिये। इसलिये गिरवरने गौरीकी लाशको कंधेपर उठाकर भगवान्का नाम लेते-लेते नर्मदाजीमें बहा दिया। लाश बह चली। गिरवरकी दोनों आँखोंसे जाने क्यों दो मोती टपक पड़े!

गिरवरने अपनेको सँभाला। जब लाशका दीखना बंद हो गया तब गिरवर आगे बढ़े। अब उनका मन वैराग्यसे छलक उठा। भगवान्के लिये छटपटी लग गयी। कुछ दिन यों ही बीते।

भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा बढ़ती गयी। एक दिन जब बहुत ही व्याकुलता हुई तब वे एक पेड़के नीचे बैठ गये और बड़ी करुणासे भगवान्‌को पुकारने लगे। उन्होंने कहा—'हे मेरे परमात्मा! अब तो मुझसे एक क्षण भी तुम्हारे बिना नहीं रहा जाता। मैं नीच हूँ, अधम हूँ—जो कुछ भी हूँ, तुम्हारा हूँ। मुझे दर्शन देकर अपने धाममें ले चलो! मैं देखता हूँ—तुम्हारे बिना सारा जगत् मुझको शून्य ही दिखायी देता है। तुम्हारी आहट सुनता हूँ। जिधर कान जाते हैं, उधर ही तुम्हारे आनेकी आवाज सुनायी पड़ती है; परन्तु तुम दिखायी नहीं पड़ते। मैंने बहुत कालतक तुम्हारा बिछोह सहा। अब प्रभो! नहीं सह सकता। अब तो तुम्हारे बिना मेरा पलभर भी नहीं चल सकता। तुम नाथ! अब प्रकट क्यों नहीं होते? मैं इतना छटपटा रहा हूँ और तुम छिपे-छिपे तमाशा देख रहे हो। प्रभो! यह जीव न मालूम कबसे भटक रहा है। तुम्हारे वियोगकी आग इसके हृदयमें कभी नहीं जली! नहीं तो, क्या तुम इसको दर्शन दिये बिना कभी रह सकते? परन्तु जीव इस आगको कैसे जलावे। तुम्हारे विरहकी आग संसारका सर्वस्व जला देती है। जीव तो फँसा रहता है संसारकी साधारण-से-साधारण वस्तुके मोहमें। वह कैसे सबका जलना सहन कर सकता है? तुम्हीं कृपा करके कभी इस आगको जलाते हो और तुम्हीं उसे फूँक-फूँककर प्रचण्ड बनाते हो। तुमने बड़ी दया की, तुम्हारे आग्रहका मैं क्या बखान करूँ जो तुमने इस अधमके हृदयमें ऐसी सर्वसंहारिणी आग लगा दी। जब आग लगा दी तो अब तुम्हीं आकर अपनी दुर्लभ रूप-सुधा-धारासे इसे

शान्त करो। अब यह आग और किसी तरह बुझ ही नहीं सकती। प्रभो! मेरे अन्तरतम! आओ और इस आगको बुझाने आओ। परन्तु प्रभो! यह भी तो मेरी दुर्बलता ही है जो मैं इस आगको बुझाना चाहता हूँ। नहीं, नहीं! आग और भी प्रचण्ड रूप धारण करे। भस्म कर दे सब कुछ—मैं जो 'मैं' 'मैं' कह रहा हूँ, इसे भी बिल्कुल जला दे—खाक कर दे। बस, एकमात्र तुम्हीं रह जाओ। और फिर तुम आओ तो तुम्हें इसके खाकके ढेरमें—बस, तुम्हारी ही मूर्ति मिले। बढ़ाओ, बढ़ाओ—हे प्रचण्ड अग्निमें प्राण फूँकनेवाले महान् अग्नि! अपनी ज्वालाको! यों कहते-कहते गिरवर क्षणभरके लिये मूर्च्छित हो गये। दूसरे ही क्षण चेतन होकर देखते हैं, तमाम जंगल अपूर्व ज्योतिसे जगमगा उठा है। चारों ओर मानो अपार आनन्दसे भरा शान्त महान् प्रकाश फैला है। भगवान्‌का वृन्दावन धाम वहाँ उतर आया। नर्मदाजी श्यामसलिला यमुनाजीके रूपमें परिणत हो गयीं। सामने कदम्बका सुन्दर वृक्ष है और उसके नीचे गौओं और ग्वाल-बालोंसे घिरे हुए नटवरवेषमें श्रीकृष्ण मोहिनी मुरली बजा रहे हैं। मोहनकी मोहिनी छबि देखकर और उनकी मुरलीकी मधुर लहरी सुनकर गिरवर मुग्ध हो गये। उनकी आँखें अपलक होकर श्यामसुन्दरकी रूप-सुधाका अमृत पान करने लगीं। अहा! भगवान्‌की कैसी मधुर छबि है—नील आभायुक्त मनोहर श्याम वर्ण है, नाना प्रकारकी धातुओंसे सब अङ्ग सजाये हुए हैं, मस्तकपर मोरपिच्छका मुकुट सुशोभित है, गलेमें मालतीकी और नवीन गुञ्जाओंकी माला शोभा पा रही है। सुवर्णके समान पीला जरीका पीताम्बर पहने हैं। सखा

श्रीदामके कंधेपर बायाँ हाथ रक्खे ललित त्रिभङ्गीसे खड़े-खड़े मुसकरा रहे हैं। उनकी मधुर मुसकराहट ब्रह्मानन्दको भी फीका किये देती है। दाहिने हाथमें अति सुन्दर एक कमल लिये हैं। श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीके दर्शनकर गिरवर आनन्दसागरमें डूब गये। उनका शरीर पुलकित हो गया, वाणी रुक गयी और आँखोंसे आनन्दाश्रुओंकी धारा बह चली। वे सब कुछ भूलकर जाने किस आनन्दसाम्राज्यमें चले गये। कुछ देर भक्तको इस दशामें रखकर फिर भगवान् मधुर वाणीसे बोले—'गिरवर ! तू मुझे अत्यन्त ही प्यारा है, आज तेरे ही लिये यहाँ दिव्य वृन्दावनका प्राकट्य हुआ है। तू धन्य हो गया। अब तू मेरे परमधाममें चल। गौरी मरी नहीं है, वह कुछ दिन पार्थिव शरीरमें और रहेगी। उसके मनमें पुत्रदर्शनकी कामना थी, इससे वह ऊदासे मिलकर तब मेरे धाममें आवेगी। तू धन्य हो गया।'

भगवान्‌के इतना कहते ही सहसा गिरवरके शरीरका रंग बदल गया। वह ज्योतिर्मय हो गया। कुछ ही क्षणोंमें उसमेंसे ज्योतिका एक पुञ्ज निकला। ज्योतिपुञ्जके निकलते ही शरीर निष्प्राण होकर जमीनपर गिर गया। और वह ज्योतिपुञ्ज देखते-ही-देखते सुन्दर दिव्य शरीरधारी एक कृष्णसखा गोपबालकके रूपमें परिणत होकर श्रीकृष्णके चरणोंपर गिर गया। भगवान्‌ने उसे बड़े प्रेमसे उठाकर हृदयसे लगा लिया। और फिर तुरंत ही अपने सब सखाओं और वृन्दावनसहित भगवान् अन्तर्धान हो गये। गिरवरका मृत देह जंगलमें एक पेड़के नीचे पड़ा रह गया।

गौरीका शरीर बहते-बहते, किनारेका एक बड़ा पेड़ टूटकर नदीमें गिर पड़ा था, उसमें उलझकर अटक गया था। सात दिन देह उसीमें उलझा रहा। आश्चर्यकी बात तो यह है कि सात दिनोंमें किसी भी जल-जन्तु या मांसाहारी पक्षीने उसे छुआ भी नहीं। आठवें दिन लहरोंकी चोट खाते-खाते शरीर उलझनसे निकला और आगे बह चला। वहाँसे थोड़ी ही दूरपर नदी-किनारे एक सिद्ध महात्मा रहते थे। वे नर्मदामें स्नान करने आये थे। भगवान्के विधानसे उसी समय गौरीका शरीर बहते-बहते उसी जगह किनारे आ लगा। महात्माकी दृष्टि उस ओर गयी। उन्होंने अपने योगबलसे सब बातें जान लीं और उसे जीवित समझकर वे बाहर निकाल लाये। देहको जमीनपर रखकर उन्होंने हाथमें जल लिया और उसे अभिमन्त्रित करके देहपर छिड़क दिया। जलके छींटे लगते ही गौरी भगवान्के नामकी ध्वनि करती हुई वैसे ही उठ बैठी जैसे कोई नींदमें सोता हुआ आदमी जागकर सहसा उठ बैठे। गौरीने अपने सामने एक तेजपुञ्ज वृद्ध तपस्वीको देखकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। महात्माने उसको अपनी कुटीपर ले जाकर एक मधुर फल देकर कहा कि 'बेटी! इसे अभी खा लो।' आज्ञा पाकर गौरीने फल खा लिया, फल खाते ही वह पूर्ण स्वस्थ हो गयी, शरीरमें बल आ गया, मनमें तेज आ गया। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो मन सारे संस्कारोंके बोझको उतारकर हल्का हो गया है। थोड़ी देरमें मनने फिर कुछ काम शुरू किया, तब उसे अपने पतिकी याद आयी। महात्मा गौरीके मनका हाल जानकर उससे कहने लगे—

'तुम्हारे स्वामी बड़े ही भाग्यवान् थे, तुम भी बड़ी पुण्यशीला हो जो तुमको ऐसे पति मिले। अब तुम पतिकी स्मृतिको भुला दो। तुम्हारे पतिको स्वयं भगवान् अपने परमधाममें ले गये हैं।' इतना कहकर महात्माने दिव्य दृष्टिसे सारी घटना जानकर गिरवरको जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हुए और वे दिव्य देह धारण कर भगवान्के साथ परमधामको गये थे, वह सारा वृत्तान्त सुना दिया।

साध्वी गौरी पतिकी परमगति सुनकर प्रसन्न हुई। मैं साथ नहीं जा सकी, इस बातका कुछ खेद-सा उसे अवश्य हुआ। फिर सोचा, कहीं मैं साथ होती और इससे यदि स्वामीको भगवान् दर्शन न देते तो बहुत ही बुरा होता। यह बड़ा अच्छा हुआ, मेरे कारण स्वामी तो परमानन्दसे वञ्चित न रहे। मुझे इससे अधिक और क्या आनन्द होगा कि मेरे स्वामी—अखिल ब्रह्माण्डके स्वामी श्रीकृष्णके सखा बनकर उनके साथ परमधामको पधार वहाँ दिव्य आनन्दका भोग कर रहे हैं।

महात्माने कहा–'बेटी! तुम चिन्ता न करो। तुम तो मुक्त ही हो। देखो, यह सारा जगत् रज्जुमें सर्पकी भाँति केवल अध्यारोपितमात्र है। वस्तुतः न उत्पत्ति है, न विनाश है। यहाँ न कोई बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है। यही परमार्थ-तत्त्व है। जगत्की कल्पनाको छोड़ दो। तुम आत्मस्वरूप हो, नित्यमुक्त हो। तुम्हारे न कोई अपना है, न पराया है। दूसरा कोई है ही नहीं, तब अपना-पराया कहाँसे होता। यह भी जान रक्खो, आत्माका कभी कहीं आना-जाना नहीं है। वह तो एकरस तथा

नित्य है। यह जो नानात्व दीखता है, केवल अज्ञानसे दीखता है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आत्मतत्त्वसे पृथक् या अपृथक् हो। बस, केवल एक आत्मतत्त्व ही है। जन्म-मृत्यु तो सब खेल हैं। अज्ञानको छोड़कर तुम अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ। जगत् केवल व्यवहारमें है, परमार्थतः तो केवल एक नित्य, अजन्मा, शाश्वत आत्मतत्त्व ही है और वह आत्मतत्त्व तुम्हीं हो। इस प्रकार आत्मतत्त्वको जानकर और इसमें स्थित होकर व्यावहारिक जगत्में विचरण करो!'

गौरीका अन्तःकरण शुद्ध था ही, महात्माके दिये हुए सिद्ध फलसे उसके संस्कारोंका भी नाश हो चुका था। सूखे घासमें आग-की चिनगारी पड़नेपर वह जैसे कुछ ही क्षणोंमें जलकर भस्म हो जाता है, या यों कहना चाहिये कि सूर्योदय होते ही जैसे अन्धकार-का नाश हो जाता है, वैसे ही महात्माके इन थोड़े-से शब्दोंको सुनते ही गौरीके अज्ञानका सर्वथा नाश होकर उसे सम्यक् बोध हो गया। ज्ञानकी उज्ज्वल दीप्तिसे उसका चेहरा जगमगा उठा। चित्तकी अपार शान्ति मुखमण्डलपर भी आ गयी। उत्तम अधिकारीको अधिक उपदेशकी आवश्यकता नहीं होती। गुरुमुखसे निकला हुआ एक ही महावाक्य उसके मोहनाशके लिये काफी होता है। अस्तु, कुछ ही क्षणों बाद महात्माजीने कहा—'गौरी! जाओ, थोड़ी ही दूरपर तुम्हारे पतिकी मृत देह पड़ी है। मेरे शिष्य तुम्हारे साथ जाते हैं; जाकर उसका संस्कार करो और फिर जबतक प्रारब्ध शेष है, अपने आत्मस्वरूपमें सदा स्थित रहकर द्रष्टारूपसे उसके भोगको

देखती हुई जगत्‌में यथेष्ट विचरण करो । तुम्हारी एक (पुरानी) प्रबल वासना थी, उसके पूरी होते ही तुम इस शरीरसे छूटकर परमधाममें चली जाओगी ।'

मन्त्रमुग्धकी तरह महात्माके प्रत्येक वाक्यको स्वाभाविक ही स्वीकारकर गौरी वहाँसे चल दी । न जाने कहाँसे आकर चार ब्रह्मचारी उसके पीछे हो लिये ।

कुछ ही देरमें गौरी एक स्थानमें पहुँची, जहाँ बड़ी सुन्दर सुगन्ध फैली हुई थी । उसने देखा, एक दिव्यवसना देवी वृक्षके नीचे बैठी है । गौरी उसी ओर चली । उसके समीप पहुँचते ही देवी अचानक अदृश्य हो गयी । गौरीने देखा, पतिकी मृत देह पड़ी है । ऐसा लगा मानो अभी कुछ देर पहले देहसे प्राण निकले हैं । वास्तवमें बात भी ऐसी ही थी । ब्रह्मचारियोंकी सहायतासे गौरीने विधिवत् पतिका दाहकर्म किया । भस्मको नर्मदामें बहाया और फिर स्नान करके उन्हें जलाञ्जलि दी । महात्माकी कृपासे गौरीका अन्तःकरण मोहशून्य हो चुका था, इससे उसे जरा भी शोक नहीं हुआ । इतना विचार जरूर हुआ कि मेरे पति जो कहा करते थे कि 'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं ।' यह सर्वथा सत्य है । मुझ-को हटाकर भगवान्‌ने मेरे पतिको अपना परमधाम दिया और मुझको महात्माके पास भेजकर अपूर्व ज्ञान-दान कराया । यह ज्ञान न मिलता तो आज पतिका मरण मेरे लिये कितना भयानक दुःखदायी होता । सचमुच भगवान् सब कल्याण ही करते हैं । वह यह सोच ही रही थी कि एक ब्रह्मचारीने कहा, 'माता ! हमलोग जाते हैं, गुरुजीने ये गेरुआ वस्त्र और यह इकतारा दिया है और कहा है कि

गेरुआ धारण कर लो और इकतारा बजा-बजाकर व्यावहारिक जगत्में भगवान्के गुण गा-गाकर जगत्के लोगोंका कल्याण किया करो। अतएव माताजी! आप इसे लीजिये।' गौरीने गेरुआ कपड़ा और इकतारा ले लिया। देखते-ही-देखते चारों ब्रह्मचारी आँखोंकी ओझल हो गये। गौरीने समझा, मानो इकतारेके रूपमें भगवान्ने एक बड़ा साथी भेज दिया है। गौरीके मनमें भगवान्के दिव्य गुणोंका स्फुरण हो आया और वह मस्त होकर उनका गान करने लगी। मस्त गौरी चल दी। किधर जा रही है, पता नहीं है। जहाँ पैर रुकते वहीं ठहर जाती, जो कुछ फल-मूल मिलता खा लेती और जहाँ नींद आती वहीं सो जाती। भगवान्का स्मरण तो नित्य रहता ही। जाग्रत् अवस्थामें इकतारेके साथ गुणगान और कीर्तन भी एकतार चलता।

पता नहीं कितने दिन बीते—आखिर वह एक नगरमें पहुँची। नगर बहुत ही सजा हुआ था, चारों ओर मङ्गलाचार हो रहे थे। सब लोग आनन्दमग्न थे। गौरी अपने आनन्दमें मस्त थी वह किसी दूसरे ही राज्यमें थी। उसपर नगरके आनन्दका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। लोगोंकी दृष्टिमें वह पगली थी।

वृद्ध राजाके इकलौते पुत्र उदयराजका कल ही राज्याभिषेक हुआ है। सुयोग्य कुमारको राज्यभार सौंपकर राजा चतुर्थाश्रममें प्रवेशकर वनको चले गये हैं। नगरमें राज्याभिषेकका उत्सव है। आज नये राजाका प्रथम दरबार है। नगरके खास-खास लोग दरबारमें उपस्थित होने जा रहे हैं। सारी प्रजामें आनन्द छाया है। नगरके और गाँवोंसे आये हुए लोग इधर-उधर नगरकी सजावट

देखते फिरते हैं, चारों ओर भीड़ लगी है। पगली संन्यासिनी भी अपनी राग अलापती, जिधर मुँह जाता है उधर चली जा रही है। चलते-चलते वह महलके द्वारपर पहुँच गयी। और न जाने क्यों वहीं खड़ी होकर बड़े ही मधुर स्वरमें भगवान्‌के नाम-गुण गाने लगी। उसके भजनोंने लोगोंको आकर्षित कर लिया—वहाँ भीड़ इकट्ठी हो गयी। भजनकी सुमधुर ध्वनि महलोंमें पहुँची। सुरीली आवाज सुनकर राजमहलकी स्त्रियाँ अटारियोंपर चढ़कर भजन सुनने लगीं। संन्यासिनीका परिचय जाननेकी लालसा सभीके मनमें जाग उठी।

राजकुमार दरबारमें जानेकी तैयारी कर रहे थे। एक सेवकने जाकर उनसे कहा—'महाराज! महलके सदर दरवाजेपर एक तेज-पुञ्जमयी संन्यासिनी खड़ी ऐसे सुन्दर भजन गा रही हैं कि उन्होंने सबके मनको अपनी ओर खींच लिया है।' संन्यासिनीका नाम सुनते ही राजकुमारको किसी पूर्वस्मृतिने चौंका दिया और वे जिस हालतमें थे उसी हालतमें महलके दरवाजेकी ओर दौड़े और वहाँ पहुँचकर संन्यासिनीकी ओर भक्तिपूर्ण दृष्टिसे देखा। देखते ही उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे और वे उनके चरणोंमें लिपट गये। राजकुमारके अचानक आकर इस प्रकार चरणोंमें लिपटते समय गौरी सहम गयी, कुछ पीछे हटी; परन्तु दूसरे ही क्षण उसकी स्मृति जाग उठी। उसने बरबस उठाकर राजकुमारके मुखकी ओर बड़ी ही सतृष्ण दृष्टिसे देखा। उसकी आँखोंमें प्रेमाश्रु भर आये। राजकुमारको उसने हृदयसे लगा लिया और बोली—'मैं क्या यह स्वप्न देख रही हूँ। क्या मेरा ऊदा ही मेरी छातीसे लिपटा है।' राजकुमारने रोते-रोते कहा—'माँ! तेरा ऊदा बहुत ही बड़भागी है,

जो आज उसको इस अवस्थामें माँकी चरणरज प्राप्त हुई। आम रास्तेपर राजकुमार और संन्यासिनीकी इन चेष्टाओंको देखकर और उनकी बातें सुनकर राजकर्मचारी और राज्यके लोग सब चकित रह गये।

राजकुमार संन्यासिनीको महलोंमें ले गये और उन्हें ऊँचे आसनपर बैठाया। रानीसे कहा—सासके चरणवन्दन करो। मैं मातृहीन आज माँकी गोद पाकर कृतार्थ हो गया और तुम भी सासकी सेवाका सौभाग्य पाकर धन्य होओ।

राजकुमार गौरीके चरणोंमें बैठ गया। गौरीकी विचित्र दशा है। महात्माके उपदेशसे एक ओर तो वह जगत्‌को स्वप्नवत् देख रही है; और दूसरी ओर पुराने संस्कार क्षीणरूपसे आ-आकर उसे पुत्रस्नेहमें बाँधना चाहते हैं। वह चुपचाप बैठी है। राजकुमारने आज्ञा दी, दरबार सन्ध्याको होगा। आज माताजीका शुभागमन हुआ है। इससे अभी सारा राजपरिवार इनकी सेवामें रहेगा। दरबार स्थगित हो गया। राजकुमारने माताजीसे कहा—माँ! तुम बोलती क्यों नहीं? क्या मुझे भूल गयी? मैं तो सचमुच ही भूल गया था। तुम्हींने तो परसों रातको आकर मुझे सब बातें स्मरण करायीं। तभीसे मैं प्रतीक्षामें था कि तुम कब आती हो और कब मैं तुम्हारे चरणोंका दर्शनकर कृतार्थ होता हूँ।

अब गौरीकी जबान खुली। उसने कहा, मैं परसों कब आयी थी तुझे स्मरण कराने और तू मुझे कैसे भूल गया था। पहले तो यह बता, तेरे प्राण कैसे बचे और तू यहाँ कैसे आया?

राजकुमारने कहा—माँ! तुझे याद ही होगा कि मुझे घड़ियालने पकड़कर जलमें खींच लिया था। उसके बाद घड़ियाल पानीके अंदर-ही-अंदर मुझे बहुत दूर ले गया। इतनेमें न मालूम पानीके अंदर

किस जानवरने आकर घड़ियालपर हमला किया कि वह घबरा गया। इसी बीचमें मैं उसके मुँहसे छूट गया। मुझे बहुत ही कम होश था। यद्यपि मैं बहुत नादान था, तथापि पिताजीकी वह बात जो वे बार-बार कहते थे कि 'भगवान् जो कुछ करते हैं सब कल्याण ही करते हैं' मुझे याद थी। उसीसे मुझे कुछ ढाढ़स मिलता था। मैं घड़ियालसे छूटकर एक बार ऊपर आकर डूबने लगा। इतनेमें ही एक नाव मेरे समीप आयी और नाववालोंने मुझे उठाकर नावपर चढ़ा लिया। नावपर आते ही मैं बेहोश हो गया। कई दिनों बाद जब मुझे होश हुआ तो मैंने देखा कि मैं एक बड़े अच्छे महलमें पलँगपर सोया हूँ। बहुत-से सेवक मेरी सेवामें लगे हैं और एक तेजस्वी वृद्ध पुरुष मेरे सिरहानेकी ओर बैठे मेरे मस्तकपर हाथ फेर रहे हैं। मेरी आँखें खुली देखकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और समीप ही बैठे हुए एक गौरवर्ण वृद्ध संन्यासीसे बोले—'महाराज! आपका वचन सत्य हो गया। आज ठीक इक्कीसवाँ दिन है। मैं धन्य हो गया। मुझ अपुत्रको पुत्रदान देकर आपने कृतार्थ किया।' संन्यासी मुसकरा दिये। फिर संन्यासीने मेरा हाथ अपने हाथमें लेकर कहा—'बेटा! बताओ, तुम किस जातिके हो, तुम्हारा क्या नाम है? तुम्हारे माता-पिता और गाँवका क्या नाम है?' माँ! पता नहीं क्यों, मेरी सारी स्मृति उस समय नष्ट हो गयी थी। मुझे सिर्फ इतना याद था कि 'मैं क्षत्रिय हूँ और मेरा नाम ऊदा है। पहले कहाँ था, कैसे यहाँ पहुँचा, माँ-बाप कौन थे? यह सब मैं बिल्कुल ही भूल गया। मैंने कहा, 'महाराज! मुझे मालूम नहीं, मेरे पिता-माता कौन थे और मैं किस गाँवमें जन्मा था। मुझे इतना ही मालूम है कि मैं क्षत्रिय हूँ और मेरा नाम ऊदा है।' मेरी बात सुनकर संन्यासी महाराज उक्त वृद्ध पुरुषकी ओर देखकर

हँसने लगे। वृद्ध पुरुषने कहा—'महाराज! आपका कहा कुछ भी अन्यथा नहीं हो सकता। मैं निहाल हो गया। मैं समझता हूँ—राज्याभिषेकके पहले दिनतक इसे पूर्वस्मृति नहीं होगी, यह बहुत अच्छा हुआ।' संन्यासी महाराज मुझसे बोले—'बेटा! तुम्हारा नाम आजसे उदयराज हुआ। ये महाराज चन्द्रसेन तुम्हारे पिता हैं। तुम्हारी माता महारानी कमलादेवी स्वर्गवासिनी हो चुकी हैं। अब तुम्हीं इस राज्यके मालिक हो। महाराजकी देख-रेखमें खूब विद्याध्ययन करो और समयपर राज्यशासनका भार लेकर प्रजाको सुखी करो। तुम्हारी भगवान्‌में रुचि होगी। मेरा यही तुमको आशीर्वाद है।' इतना कहकर संन्यासी महाराज उठे और वृद्ध पुरुषसे यह कहकर कि 'महाराज! मेरा वचन पूरा हो गया, अब मैं जाता हूँ।' चल दिये। महाराज चन्द्रसेनने उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनसे आशीर्वाद पाकर अपनेको धन्य माना।

बस, तबसे मैं यहीं सुखपूर्वक रहा। मेरी सेवाके लिये दास-दासियाँ, देख-रेखके लिये सरदार और पढ़ाईके लिये सुयोग्य गुरुओंकी नियुक्ति हो गयी। दो साल हुए विजयनगरके महाराजकी पुत्रीसे मेरा विवाह हुआ—ये तुम्हारे चरणोंमें बैठी हैं। कल मेरे राज्याभिषेकका और महाराजके संन्यासग्रहणका मुहूर्त था। इसलिये परसों मैंने उपवास किया था। रातको जागरण था। रातके चौथे पहर मुझे झपकी-सी आ गयी। मैं देखता हूँ—तुम इसी वेषमें मेरे सामने खड़ी हो। मेरे न पहचाननेपर तुमने मुझे खींचकर अपनी गोदमें ले लिया और पुरानी सब बातें सुनायीं। बस, तभीसे मुझे सब स्मरण हो आया। तबतक मैं सब बातें, यहाँतक कि घड़ियालसे पकड़े जानेतककी बात भूल गया था। मैंने जागकर देखा तुम नहीं हो,

परन्तु स्वप्नकी स्मृति ज्यों-की-त्यों बनी रही । तभीसे मैं तुम्हारे दर्शनके लिये व्याकुल था । कल राज्याभिषेकका दिन था, परन्तु मेरा मन तुम्हारी ओर लगा था । मुझे कुछ उदास देखकर महाराजने मुझसे पूछा । मेरे स्वप्नका हाल सुनानेपर उन्होंने कहा—'बेटा ! हो सकता है, तुम्हारी माताजीने ही तुम्हें दर्शन दिये हों ।' बात यह है, मैं सन्तानहीन था । महारानीका स्वर्गवास हो चुका था । पुनः विवाह करनेकी मेरी इच्छा नहीं थी, क्योंकि मेरा मन पहलेसे ही कुछ विरक्त-सा था । रानीके मरनेपर और भी विरक्त हो गया । मैं राज्य छोड़कर संन्यासग्रहणका विचार करने लगा । तब एक दिन अकस्मात् मेरे पिताजीके गुरु महाराज, जो बड़े सिद्ध योगी थे, अचानक पधारे । उन्होंने कहा—'चन्द्रसेन ! अभी तुम्हारे संन्यास-का समय नहीं आया है । तुम्हारा कर्तव्य अभी पूरा नहीं हुआ है । चलो मेरे साथ वनमें, वहाँ एक अनुष्ठान किया जायगा । भगवान् तुम्हें एक सुयोग्य पुत्र भेज देंगे । वह अपने पहले घर और माता-पिताको राज्याभिषेकके दिनतक भूला रहेगा, जिससे इस घरमें इसकी ममता हो जायगी । वह बालक आगे चलकर बड़ा ही बुद्धिमान्, विद्वान्, भगवद्भक्त और सदाचारी होगा । उससे तुम्हारा कुल उज्ज्वल होगा और तुम्हारी सद्गति होगी । उसे पाल-पोसकर, सब तरहसे योग्य बनाकर और राज्यभार सौंपकर तुम उसी दिन संन्यास ले लेना ।' महात्माकी बात सुनकर मैं उनके साथ वनमें गया । वहाँ महात्माने अनुष्ठान किया । अनुष्ठानकी समाप्तिके दिन हमलोग नर्मदाजीमें नहाकर नावपर सवार हुए थे और मछलियोंको अन्न खिला रहे थे । इसी समय तुम डूबते दिखायी दिये और

महात्माके संकेतसे तुम निकाल लिये गये। तुम जलसे निकलते ही बेहोश हो गये थे। तुम्हारे पैरमें घाव था। इक्कीस दिनतक तुम बेहोश रहे, इतनेमें घावका इलाज हो गया। घाव सूख गया और तुम होशमें आ गये। आज तुम्हारे राज्याभिषेकका दिन है। तुम्हें पूर्वस्मृति करानेके लिये ही सम्भवतः भगवान्‌के विधानसे तुम्हें संन्यासिनीके रूपमें अपनी माताके दर्शन हुए हों। तुम उदास न होओ। आनन्दपूर्वक सब काम सम्पन्न करो।

महाराजके वचनोंसे मुझे शान्ति मिली, परन्तु मन तुम्हारी ओर लगा रहा। आज तुम्हारे दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गया। माँ! बताओ, तुम इस वेशमें क्यों हो? पिताजी कहाँ हैं? तुम-लोगोंको बड़ा ही कष्ट हुआ होगा। मैं अभागा हूँ जो तुम्हारी सेवासे वञ्चित रहा। माँ! माँ! मुझे गोदमें ले लो। इतना कहकर राजकुमार माताकी गोदमें गिर गये। उनकी आँखोंसे आँसूकी धारा बह चली।

गौरी ज्ञान प्राप्त कर चुकी थी; परन्तु आज उसके हृदयमें भी स्नेहने जोर मारा। बोधने बाँध तो नहीं टूटने दिया, परन्तु आँखें छलछला आयीं। माताने बिछुड़े पूतको पाकर उसे हृदयसे लगा लिया और अबतककी सारी कथा विस्तारपूर्वक कह सुनायी।

पिता गिरवरका मरण सुनकर राजकुमारको बड़ा दुःख हुआ, परन्तु माताके समझानेपर उनका मन शान्त हो गया।

बात-ही-बातमें सन्ध्या होनेको आयी। वधूके बड़ा आग्रह करनेपर माताजीने उठकर स्नान-भोजनादि किया। सन्ध्याको दरबारका काम हुआ। रातको फिर माता-पुत्रमें बातें होती रहीं।

गौरीने पुत्रको भगवद्भक्तिका बड़ा ही सुन्दर उपदेश देकर असली मातृस्नेहका परिचय दिया । माताके उपदेशका राजकुमारपर बहुत ही प्रभाव पड़ा । गौरीने कहा—'बेटा ! तुम्हें देखनेकी मेरी वासना पूरी हो गयी, अब मुझे जाने दो ।' परन्तु उदयराजने किसी प्रकार भी माताको जानेकी अनुमति नहीं दी । अन्तमें यह निश्चय हुआ कि नगरके बाहर गौरीके लिये कुटिया बना दी जाय । बाहर कुटिया बनवा दी गयी । गौरी उसीमें रहने लगी । सेवाका समुचित प्रबन्ध हो गया । पुत्र उदयराज और पुत्रवधू रोज माताके दर्शनार्थ जाते और उनकी सेवासे अपनेको कृतार्थ समझते । माता उन्हें सदा भगवद्भक्तिका ही उपदेश करती । एक दिन माँने कहा—'बेटा ! भगवान् जो कुछ करते हैं सब कल्याण ही करते हैं । इस मन्त्रको न भूलना और सदा प्रसन्न रहना । देखो ! हमलोगोंका किस प्रकार भगवान्ने कल्याण किया ।'

गौरी ज्ञानसम्पन्न तो थी ही, धीरे-धीरे उसका भगवत्प्रेम भी पराकाष्ठाको पहुँच गया । भगवान्ने कृपा करके प्रेमवश हो उसे अपने साक्षात् दर्शन दिये । तबसे गौरी प्रेममें बेसुध हो गयी और दर्शनके तीसरे ही दिन भगवान्के दर्शन करते-करते ही शरीर त्यागकर भगवान्के परमधाममें चली गयी ।

पुत्र उदयराज अपनी पत्नीसहित भगवान्का भजन करते हुए राज्यशासन करने लगे । अन्तमें भगवान्की सच्ची भक्तिको पाकर वे भी कृतार्थ हो गये ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

श्रीहरिः

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

(सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार)

मूल्य

न० पै०

भक्त बालक—पृष्ठ ७६, सचित्र, इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं ... ३१

भक्त नारी—पृष्ठ ६८, एक तिरंगा तथा पाँच सादे चित्र, इसमें शबरी, मीराबाई, करमैतीबाई, जनाबाई और रबियाकी कथाएँ हैं ३१

भक्त-पञ्चरत्न—पृष्ठ ८८, एक तिरंगा तथा एक सादा चित्र, इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी कथाएँ हैं ३१

आदर्श भक्त—पृष्ठ ९८, एक रंगीन तथा ग्यारह सादे चित्र, इसमें शिबि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिककी कथाएँ हैं ३१

भक्त-चन्द्रिका—पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, इसमें साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विठ्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ हैं ३१

भक्त-सप्तरत्न—पृष्ठ ८८, सचित्र, इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालबेगकी कथाएँ हैं ३१

भक्त-कुसुम—पृष्ठ ८४, सचित्र, इसमें जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ हैं ३१

प्रेमी भक्त—पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, इसमें बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूप-सनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ हैं ... ३१